'मनन-चिंतन भी पर हंसो भी'

मंगला रामचन्द्रन

संजीव प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली-110002

भूमिका

इंसान सामाजिक प्राणी है, ये बात प्रति पल याद करने या दिलाने की आवश्यकता नहीं है। पर क्या हम कभी गम्भीरता से सोचते हैं कि सही अर्थों में हम समाज से कितने जुड़े हुए हैं? समाज से हम लेते कितना हैं और समाज को लौटाते कितना हैं? लेखक का तो एक दायित्व है कि वो सामाजिक सरोकारों से जुड़ा रहे। इसी तरह से जुड़े रहने से मैंने लगभग ढाई सौ आलेख लिखे जो प्रकाशित होते रहे। कहा जाता है कि लेखक/लेखिका की तीसरी आँख होती है अर्थात् दूरदर्शिता होती है। पुराने आलेखों में समाज में फैली विडम्बना और दिल को खटकने वाली कुछ बातों की ओर इशारा किया गया था। उनमें से कुछ मुद्दों ने बाद में तीव्र एवं भयंकर रूप ले लिया है।

पिछले चार दशकों में मेरे आलेखों का संग्रह तितर-बितर होकर खो सा गया। शेष बची सामग्री ही **'मनन-चिंतन भी पर हंसो भी'** के शीर्षक से आपके सामने प्रस्तुत है।

–श्रीमती मंगला रामचन्द्रन

41-डी/डी/एस-3, अरण्यनगर,
स्कीम नं. 78, इन्दौर-452010
दूरभाष : 0731-2558643
मो. : 09753351506

अनुक्रमणिका

1. त्रिशंकु 7
2. महिला दिवस को सार्थक पहचान देने की पहल 9
3. बाल-साहित्य के प्रति बेरुखी 12
4. महत्वाकांक्षा का फलक 15
5. अवसाद एक अंधा कुआं 18
6. सारे रिश्ते सिमट गये, रह गया रिश्ता नर-नारी का 22
7. सही अर्थों में स्वतंत्रता 24
8. रेशमी धागे और इनकी प्रतिष्ठा 26
9. बदलते सांस्कृतिक मूल्यों को भी सहेजें 29
10. बूफे 31
11. बच्चों का आत्म-विश्वास कम न करें 34
12. स्पेस 38
13. पुस्तकें क्या कहती हैं? 40
14. कच्ची उम्र के सपने कितने अपने 43
15. ऊँची उड़ान में पंख न झुलसें 46
16. यही समय है, कुछ कर गुजरने का 48
17. सपनों से कटता बचपन 50
18. कोमल मन और शिक्षिका का रोल 54
19. गृहिणियों का आत्म-सम्मान 57
20. अपमान नारी का या नारित्व का? 59
21. प्रार्थनारत स्त्री के पक्ष में 61
22. बढ़ती उम्र क्यों बढ़ायें चिंता? 63
23. आसमान छूना है, पर किस कीमत पर 65

24. कितना उचित है, आत्मघाती जीवन शैली 67
25. मासूमियत! वो क्या है? 70
26. गृहिणी क्यों न गर्व करे! 74
27. प्रतिस्पर्धा या सहयोगी 77
28. एक दीप मैं भी जलाऊँ 79
29. पति-पत्नी का आदर्श स्वरूप—दोस्ताना व्यवहार 81
30. प्रशंसा स्वीकारने की कला सीखें 83
31. बच्चों को स्कूल भेजने के बाद मां की जिम्मेदारी 85
32. केवल निमंत्रण नहीं, सफाई भी 89
33. दिल का दर्पण झूठ नहीं बोलता 92
34. परिवार में त्यौहार की मिठास 95
35. तुम्हारी बेटी राज करेगी 98
36. महिला एक अच्छी शिक्षिका 101
37. बलात्कार एक भयंकर सामाजिक बुराई 103
38. आस्था कभी तिरोहित नहीं होती 107
39. विकलांगता ने बनाया फरिश्ता! 110

कुछ हंस लें

40. हमारा राष्ट्रीय खेल-हाय ऽ ऽ 115
41. हाय, उन्हें चश्मा लग गया 119
42. आफ्टर ऑल दे आर डॉलफिन्स 121
43. कहीं कुछ देख रहे हैं क्या? 126
44. क्या अपना नम्बर एक बार फिर बताएँगे? 129
45. हाय, लोग क्या कहेंगे 132
46. मेरा पति, कुर्सी मेरी 135
47. मैंने प्यार किया 138
48. महँगा रोए एक बार 141

त्रिशंकु

अपनी जमीन हर किसी को अजीज होती है। होनी भी चाहिए, क्योंकि हर जमीन का अपना अलग रंग, अलग परिवेश, वातावरण, सभ्यता-संस्कृति यहाँ तक कि खुशबू भी अलग-अलग होती है। भाषा के मुद्दे पर बेबात, बिना मतलब लड़ाइयाँ होती रहती हैं, जबकि कोई भी भाषा कभी दूसरी भाषा का नुकसान नहीं कर सकती। विवेक से इस्तेमाल किया जाये तो एक भाषा दूसरी भाषा को समृद्ध ही करेगी। मगर सभ्यता और संस्कृति पर जब हमला होता है, तो पूरा देश इसकी चपेट में आता ही है, देश की भावी पीढ़ी के मानसिक बल तक असर पहुँचता है।

देश में उथल-पुथल मच जाती है, बड़ों की बुजुर्गों और आदरणीयों की मान-मर्यादा खतरे में पड़ जाती है, घर बिखर जाते हैं, परिवार टूटने लगते हैं। घर की लाज चौराहे तक आ जाये और शिष्टता केवल होंठों तक सीमित रह जाये, एक वाक्य में कहा जाये तो देशवासी मानसिक रूप से व्याधिग्रस्त हो रहे हैं। इसके बाद शारीरिक बलहीनता आने में भी कोई देर नहीं लगेगी।

पिछले कुछ समय से पश्चिमी सभ्यता जिस तरह हमारे यहाँ हावी हो रही है, वो चिंतनीय दशा है—पश्चिमी सभ्यता के कुछ 'ग्लैमर' पक्षों को अपनाकर हम किसका भला कर रहे हैं? विदेशी सभ्यता या संस्कृति के ऐसे पक्षों को नकारना क्या हमारे लिए आवश्यक नहीं है, जो हमारी जमीन से मेल नहीं खाते? यह सारा संत्रास उपजा ही इसी 'मेल खाने' और न खाने के बीच से, इन्हीं में से एक है हर पार्टी, पिकनिक गोष्ठी में 'ड्रिंक्स' के नाम पर शराब का सेवन, पाश्चात्य देशों की भौगोलिक परिस्थितियों में इनका सेवन बुरा भी नहीं माना जाता और कभी-कभी जरूरी भी हो जाता है। पर उसमें भी एक तरीका और शिष्टता होती है। यहाँ की तरह सिर्फ फैशन और 'स्टेटस सिम्बल' के नाम पर नहीं देखा-देखी और खुद को कमतर न समझ ले, ये चिंतन ऐसी गलत बातों या सामाजिक बुराइयों को बढ़ावा ही देता है।

इस चक्र में क्या हम अपने परिवेश से कटते नहीं जा रहे हैं। परिवेश ही नहीं, अपनी जमीन से भी हम अब जुड़े हुए नहीं हैं अधर में त्रिशंकु की तरह लटके हुए हैं। ये तो हर कोई जानता है कि जो अपने आधार से जुड़ा न रहे या आधार को ही महत्व न दे, उसका हश्र क्या होता है?

●●●

महिला-दिवस को सार्थक पहचान देने की पहल

महिला-पुरुष में असमानता होने वाली बात जगविदित और विश्वव्यापी समस्या बनी रही है। अभी भी महिलाएँ विश्व के 2/3 हिस्से का कार्य करती हैं। पर विश्व की आय का मात्र 10 प्रतिशत ही उसके हिस्से आता है। बहुत लंबे समय से इस अंतर को सहते रहने के पश्चात् स्थिति को परिवर्तन करने की भावना ने जन्म लिया। सन् 1908 में अमेरिका के न्यूयार्क शहर में 15,000 औरतों ने काम के घंटे कम करने, तनख्वाह बढ़ाने तथा मत देने के अधिकार की माँग करते हुए जुलूस निकाला।

सन् 1909 में अमेरिका की तत्कालीन सरकार (सोशलिस्ट पार्टी) ने तभी से 28 फरवरी को राष्ट्रीय महिला-दिवस घोषित किया। 1913 तक हर वर्ष फरवरी के आखिरी रविवार को महिला-दिवस मनाया जाता रहा।

सन् 1910 के कोपनहेगन में नौकरीपेशा महिलाओं की अन्तर्राष्ट्रीय कांफ्रेंस हुई। इसमें जर्मनी की क्लारा जेटकिन (यह महिला विभाग की प्रमुख थी) ने एक प्रस्ताव रखा। हर वर्ष पूरे विश्व में हर देश एक ही दिन महिला-दिवस मनाए। जिसमें महिलाओं की समस्याओं पर अन्य लोगों और सरकार का ध्यान आकर्षित करें। इसके फलस्वरूप 1911 में 19 मार्च को यूरोप के चार देशों में अंतर्राष्ट्रीय महिला-दिवस का आयोजन हुआ। इनमें महिलाओं की स्थिति में सुधार की बातें हुईं। इसके ठीक एक सप्ताह बाद 25 मार्च को न्यूयॉर्क शहर में एक भयंकर आग में 140 कामगार औरतों की जान चली गई। उनके कार्यस्थल पर भीषण अव्यवस्था व असावधानी पाई गई। इसमें अधिकांश महिलाएँ यहूदी और इतालवी थीं। इस घटना ने वहाँ की सरकार और अन्य लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान रूस की महिलाओं ने, शांति की अपील के साथ, सन् 1913 में फरवरी के आखिरी रविवार को प्रथम अंतर्राष्ट्रीय दिवस मनाया। उस समय चर्चाओं के अंत में तय हुआ कि विश्वव्यापी तौर पर 8 मार्च को ही

महिला-दिवस मनाया जायेगा। इस तरह सन् 1914 से आज तक 8 मार्च को ही अन्तर्राष्ट्रीय महिला-दिवस मनाया जा रहा है। महिलाओं की एकजुटता और पूर्ण सुदृढ़ता को कायम करने के लिए 1914 में समस्त यूरोप में रैलियां निकाली गईं।

महिलाओं के प्रति सामाजिक चेतना जागृत करने के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय महिला-दिवस का जन्म हुआ। काफी वर्षों तक इस दिन को यूनाइटेड नेशंस में एक कांफ्रेंस का आयोजन होता रहा। इसमें महिलाओं के अधिकार और सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक हिस्सेदारी में उनकी भागीदारी की बढ़ती कोशिशों को स्थान मिला। महिलाओं की हर क्षेत्र में प्रगति दृष्टिगोचर भी हुई तथा हर क्षेत्र में ऐसी महिलाओं को पुरस्कृत करने का प्रावधान भी हुआ।

विश्व के कई देशों में 8 मार्च को सरकारी छुट्टी घोषित हो चुकी है। पुरुष वर्ग अपनी माँ, बहन, पत्नी व महिला मित्रों को फूल और तोहफे देकर सम्मान करने लगे। कुछ देशों में इस दिन मातृ-दिवस की तरह बच्चे अपनी माँ और दादी-नानी को छोटे-छोटे तोहफे देते हैं।

सन् 1909 में प्रथम महिला-दिवस मना। तब से 2009 तक एक सदी बीत गई। इस सौवें वर्ष में लगभग इक्कीस देशों से 220 'इवेंट्स' (कार्यक्रम) होने वाले हैं। इसमें यूके में 86, अमेरिका में 45, ऑस्ट्रेलिया में 38, कनाड़ा में 25 और सिंगापुर में 4 इवेंट्स होंगे भारत के मुंबई में तंबाखू के विरोध में महिलाओं का अंतर्राष्ट्रीय नेटवर्क कांफ्रेंस करने वाला है।

ऑक्सफोर्ड की महिला संगठन अपने वार्षिक कार्यक्रम को फरवरी से मार्च तक आयोजित करते हुए 8 मार्च को महिला दिवस मनाते हुए समापन करती हैं। इन कार्यक्रमों में विभिन्न क्षेत्रों में महिलाओं की रचनात्मकता को पुरस्कृत किया जाता है। यहाँ तक कि गृहिणी के घर-परिवार के कार्यों को भी आँका जाता है। यह समाचार अवश्य ही गृहिणियों का हौसला बढ़ायेगा।

वर्तमान समय विडम्बनाओं और उलझनों भरा है। प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वंद्विता तेजी से बढ़ी है, जिसके कारण स्त्री भी धन कमाने में पुरुष के बराबर की भागीदारी कर रही है। महिला मात्र गृहिणी बनकर घर-परिवार संभालने वाली न रहकर पुरुष के समकक्ष धन कमाने की इकाई भी हो गई। जबकि अधिकांशतः पुरुष अभी भी धन उपार्जन की अपनी एकल जिम्मेदारी ही निभा रहे हैं, जो आज की भौतिक शैली के जीवन में नाकाफी ही महसूस किया जाता है।

अनेक तरह की जिम्मेदारी निभाते-निभाते उसके बोझ से महिला त्रस्त-सी रहने लगी है। जिसका असर उसके व्यवहार में नज़र आने लगा है। ये एक गलत

परिणाम की ओर दिशा संकेत है। प्रत्येक देश-प्रदेश, समाज की सभ्यता के अनुकूल कुछ अलिखित नियम होते हैं। लगता है कि महिला अपनी हड़बड़ी में इनकी अवहेलना करने लगी है। साफ कहा जाए तो पल्लू से मूल्य छूट रहे हैं आखिर पल्लू नदारद है तो पल्लू की तो धज्जी ही उड़ गई। महिला स्वयं को उपभोग की वस्तु क्यों बनने दे रही है? सिवाय आर्थिक दबाव के ऐसी कौन-सी मजबूरी है जिससें वह प्रदर्शन की वस्तु बनने को सदैव तत्पर रहने लगी? ये सारे प्रश्न मन में, दिलो-दिमाग में खलल पैदा करते हैं।

इस समय भी अगर महिलाएँ सचेत हो जाए और नारित्व का अपमान न होने दे तो इस अवांछित स्थिति से उबरा जा सकता है। महिला शिक्षित हो रही है, तो इसलिए नहीं कि नकली और आधुनिकता को स्वीकार करके स्वयं का अवमूल्यन कर लें। विज्ञापन की दुनिया हो या टी.वी. के विभिन्न चैनल्स, नारी का जो रूप नजर आ रहा है क्या वो किसी भी मूल्य पर स्वीकृत किया जा सकता है। नारी के नारीत्व के इस अवमूल्यन के लिए क्या महिला स्वयं भी जिम्मेदार नहीं है? मात्र भौतिक प्राप्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए वो नारीत्व को अपमानित होने से रोकेगी नहीं! स्वयं को लोग पिछड़ा हुआ ना मान लें इसलिए मुँह सिला रखेगी। शेषनाग के फन तो फिर भी गिने जा सकते थे, पर इन प्रश्नों के विकराल नाग के अनगिनत फन सिर्फ दंश की पीड़ा ही दे सकते हैं। ऐसे माहौल में महिला दिवस मनाने के औचित्य पर भी प्रश्न चिन्ह लग जाता है।

कितना अच्छा हो हम अंतर्राष्ट्रीय महिला-दिवस पर नारित्व के अपमान को रोकने व महिला की गरिमा को अक्षुण्ण बनाने पर अधिक ध्यान देना प्रारम्भ करें। वरना तो 8 मार्च हर वर्ष आएगा और जगह-जगह बस हाजिरी दर्ज कराकर चला जाएगा। ऐसे 8 मार्च की क्या कोई सार्थक या अर्थपूर्ण पहचान रह जाएगी।

●●●

बाल-साहित्य के प्रति बेरुखी

आधुनिक बाल-साहित्य पर बात करने से पहले हमें बालकों की प्रथम पत्रिका में झांककर इस यात्रा की शुरुआत करनी पड़ेगी। सबसे पहले बाल-पत्रिका कदाचित 'चंदामामा' थी जो उन दिनों पूरे भारत के बच्चों की प्रिय पत्रिका थी। 'चंदामामा' अनेक भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी में निकलती थी। इस पत्रिका ने पूरे भारत ध्में बच्चों के बीच विचार का एक सेतु निर्माण किया था लेकिन परम्परा और संस्कृति के नाम पर राजा-रानी, मंत्र-जादू टोना और सीधी-सादी कहानियां कब तक परोसी जा सकती हैं? परिवर्तनशील समय और बदलते वातावरण के अनुरूप नई-नई और प्रगतिशील सोच बच्चों की रचनात्मक ऊर्जा बढ़ाने के लिए आवश्यक थी। 'चंदामामा' के प्रकाशक दूरदर्शी और सचेत होते तो पत्रिका बाद में भी उसी तरह या उससे अधिक प्रसार संख्या में जारी रहती।

बच्चों की सोच के अनुरूप अगली पत्रिका 'टाइम्स ऑफ इंडिया' समूह की 'पराग' रही। जिन घरों के बच्चों में 'चंदामामा' का मोह घट गया था वहाँ माँ नए विचारों के अनुरूप कहानी बनाकर सुनाने लगी थीं। सजग माताएं अपने बच्चों को समाज में घट रही घटनाओं और इतिहास की घटनाओं के तालमेल से दोनों तरह की कहानियाँ सुनाने लगी थीं। इसलिए ऐसी माँ और ऐसे बच्चों के लिए 'पराग' वरदान साबित हुई। बाद में 'पराग' किशोर उम्र के बच्चों के लिए अधिक होती गई। इसी के साथ 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की 'नंदन' आने लगी थी। बच्चों को 'पराग' और 'नंदन' ने मिलकर ऐतिहासिक कथाएं, वर्तमान सोच पर आधारित रचनाएं, पहेलियां व अन्य रचनात्मक क्रियाओं से जोड़ दिया था। इसी कड़ी में 'बाल भारती' भी थी। इसके अलावा 'अमर चित्रकथा' और इसी तरह के प्रकाशनों की ऐतिहासिक कहानियों व मिथकों पर पुस्तिकाएं प्रकाशित होती रही हैं। बच्चे इन्हें अभी भी पसंद करते हैं। अंग्रेजी कॉमिक्स और कार्टून पत्रिकाओं का हिन्दी अनुवाद जैसे फेंटम, मिकीमाउस व डोनाल्ड डक आदि का अनुवाद होने पर बच्चों ने पसंद किया। वर्तमान में शुद्ध देशी चरित्र 'चाचा चौधरी' पुस्तकाकार और टी.

वी. के पर्दे पर बच्चों को लुभा रहे हैं, पर यह मोह बहुत जल्द भंग हो सकता है। कारण लगभग एक तरह के हालातों में चाचा और साबू मिलकर अपने कमाल से बुरे लोगों या बुरी शक्ति का खात्मा करते हैं। एकरसता किसी भी वय को नहीं भाती, बच्चों को तो खासकर। वैसे भी आसपास के वातावरण में जल्दी-जल्दी और बड़े परिवर्तन हो रहे हैं।

'नेशनल बुक ट्रस्ट' ने बच्चों के लिए बहुत सुन्दर, सामयिक विषयों पर आधारित पुस्तकों का प्रकाशन किया है। पुस्तक का गेटअप, कागज की गुणवत्ता, मुद्रण सभी कुछ उच्चकोटि का है। इसलिए पुस्तक की कीमत भी ज्यादा होगी और स्पष्टतः हर एक की पहुंच में नहीं होगी। कार्टून नेटवर्क के चौबीसों घंटे प्रसारण व केबल टी.वी. के अन्य कार्यक्रमों ने वैसे ही पढ़ने के प्रति बच्चों का मोह कम कर दिया है। जागरूक माता-पिता तो टी.वी. देखने का समय निर्धारित कर देते हैं, पर कुछ ऐसे पालक भी हैं जो बच्चों को टी.वी. के सामने बैठाकर निश्चिंत होकर घर के सारे काम निपटाते रहते हैं और कभी-कभी तो घर के बाहर का काम भी निपटा लेते हैं।

बाल-साहित्य और मुख्यधारा–अब तक बालसाहित्य की मुख्यधारा से क्यों नहीं जोड़ा गया? हमारे यहाँ महिला लेखन को हाशिये पर डालने की लगातार कोशिशें नाकाम होती रही हैं और अब काफी हद तक समाप्त भी हो गई हैं। कुछ इसी तरह बाल-साहित्य तथा बच्चों के लिए कुछ भी लिखना दोयम दर्जे का माना जाता रहा है। सरल भाषा, शिक्षाप्रद विचार, उपदेशात्मक आलेख या कहानी हो और अंत में फल प्राप्ति का सुखद संदेश भी मिले, लगभग यही शैली आमतौर पर बाल-साहित्य में अपनाई जाती रही है। बच्चों को कहानियों द्वारा जितनी शिक्षा और संस्कार दिए जा सकते हैं उतने अन्य किसी साधन से नहीं दिए जा सकते। इसलिए यह विषय और भी चिंतनीय बन जाता है और इस पर गंभीरता से सोचे जाने की मांग करता है। बच्चों के लिए क्या लिखा जाए और पढ़ने को क्या दिया जाए? बच्चों की कल्पनाशक्ति और सोच का विकास होना जरूरी है, पर इसके लिए अत्यधिक काल्पनिक, हमारे चारों ओर फैले यथार्थ से कोसों दूर, मात्र मनोरंजन के नाम पर परी-कथाओं का सृजन हो तो बच्चों पर विपरीत असर भी होता है।

नए संदर्भों में रचना निर्माण–उपन्यास 'धरती मेरा घर' में स्व. रांगेय राघव जी ने एक जगह लिखा है–'हमारी सारी मर्यादाएं हमारी परम्पराओं ने बनाई हैं। हमारी परम्पराओं का जन्म हमारे पूर्वजों के दैनिक जीवन की समस्याओं से

हुआ था' पर हम अपनी समस्याएं बदल जाने पर भी उन्हीं में अटके हुए हैं। यानी हम पुरानी परम्पराओं की मर्यादाओं में अब भी फंसे हैं। यह बाल-साहित्य की मुख्यधारा में ही बाधा पैदा करती हो, ऐसा नहीं है। बाल-साहित्य की रचनाएं इस तरह के मनोविचार से अधिक बाधित होती हैं। ''बाल-साहित्य में अभी भी प्राचीन संदर्भ और विचारों का प्रतिशत ही अधिक है। प्राचीन बातों का ज्ञान होना एक बात है और वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका पालन न होने पर भी उल्लेख होना दूसरी बात। असल में ये संघर्ष और द्वंद्व से बचने के लिए एक तरह का पलायन है। सरलता से जो वस्तु बिना मेहनत के मिल जाती है तो अपनी सोच को कष्ट देकर, दिमाग पर जोर डालकर क्यों संघर्ष किया जाए? पर बच्चों के अलावा उनकी सोच और समझ के साथ यह अन्याय है। आज के बच्चे पहले के हमउम्र बच्चों से अधिक परिपक्व हैं।

बच्चों के दोस्त बनिए–भारतीय माता-पिता, दादा-दादी बच्चों की बातों को, सोच को सुनते और समझते नहीं हैं और तरजीह भी नहीं देते। बच्चों तक कोई बात पहुँचाने का लगभग वही पुराना उपदेशात्मक, आदेशात्मक और भाषणबाजी वाला तरीका ही कमोवेश अपनाया जाता है। आप बच्चे से उम्र में बड़े हैं ये तो ठीक, लेकिन हर संदर्भ में इस बात की याद क्यों दिलाई जाए? आप अगर बच्चे के स्तर पर उतरकर उससे घुल-मिल जाएं तो उसका अधिक असर होगा।

संतान यदि खुले हृदय से माता-पिता से बात न कह सके, चाहे संकोच हो या डर, परेशानियों में माता-पिता और संतान के बीच जो संबंध हैं वे अर्थहीन हो जाएंगे। माँ बच्चे को जन्म देकर संतान वाला संबंध बनाती है और हम विशाल परिदृश्य में देखते हैं तो भी सभी बच्चे किसी न किसी की संतान हैं। बाल-साहित्य सभी बच्चों को ध्यान में रखकर, बाल हृदय की गहराईयों की थाह लेकर रचा जाना आवश्यक है। इसके लिए मात्र स्वयं के बच्चे ही नहीं, तमाम बच्चों के दिल तक वात्सल्य के सहारे ही पहुंचा जा सकता है।

●●●

महत्वाकांक्षा का फलक

आकांक्षा अथवा इच्छाओं के बिना कोई भी प्राणी अपनी जीवंतता का एहसास कैसे दिला सकता है। बल्कि अपने जीवित होने का आभास भी नहीं करा सकता। आखिर ये इच्छा या आकांक्षायें हैं क्या और मन में पनपती कैसे हैं?

पाषाण युग में अग्नि की खोज ने आदिमानव के मन में प्रकाश का सपना जगाया था पके माँस की खुशबू उसके नथुनों में भर गई। उसके बाद कृषि युग में पैर रखना कदाचित् उसके सपनों का बढ़ता वितान था। उसके कदम सभ्यता की ओर उठ रहे थे। कृषि युग ने उसे तन से और मन से शालीन बनाने का कार्य किया और जीवनचर्या को व्यवस्थित। उसके सपने, उसकी इच्छाओं ने स्वरूप बढ़ाया जो कि प्रगति के मार्ग पर प्रशस्त समाज की पहचान है। तब से आज तक सपने या इच्छायें कभी संकुचित नहीं हुई और एक उन्नतिशील समाज या देश के लिये इन्हें संकुचित होना भी नहीं चाहिये। जब समाज में, समाज या देश के हित के लिये कोई इच्छा बलवती होती है तो वे अधिकांशतः सही और प्रगति के पथ पर अग्रसर करने वाली होती है। क्योंकि ये कदम सामूहिक स्वीकृति से सबके लिये उठाया जाता है।

युग परिवर्तन के साथ सामाजिक ढांचे में भी परिवर्तन आना लाजमी था। वर्तमान तक आते-आते व्यक्ति की अपनी अलग पहचान, अपना अलग व्यक्तित्व कायम होने लगा। हर व्यक्ति के अपने-अपने व्यक्तिगत सपने और इच्छायें होने लगी है। एक छोटे से बच्चे में भी यह क्षमता आ गई है कि वो अपनी इच्छा व्यक्त करने लगा है। शायद इसीलिए इस युग को प्रगतिशील युग माना जा रहा है। छोटा बच्चा हो या बड़े-बूढ़े सबकी अपनी व्यक्तिगत इच्छा-अनिच्छा तो है ही। कभी-कभी यही इच्छा अथवा अनिच्छ सर्वोपरि भी हो जाती है। इस प्रकार की इच्छायें महत्वाकांक्षा का एक रूप ही हैं।

आम आदमी अधिकतर यही इच्छा करता है कि अधिक से अधिक धन कमा कर भौतिक सुविधाओं और विलास की वस्तुओं से घर भर दे, परिवार के

सदस्यों को इस तरह खुश रखें। चारों तरफ यही हो रहा है। सुविधा या सहूलियत के नाम पर होते-होते आदत के बतौर फिर अंतहीन सुविधा के नाम पर जो जाल बिछता है, वो इंसान को मकड़जाल की तरह इस कदर घेर लेता है कि उसमें से बाहर निकल नहीं पाता है। बस उसी में उलझ-उलझकर रह जाता है। वास्तविकता ये होती है कि इच्छाओं के साधारण रूप से लालसा की भूख बन जाती है। किसी भी वस्तु के लिये वास्तविक भूख नैसर्गिक होती है तो गलत या बुरी नहीं होती। पर जब यह अति में होती है तो हवस बन जाती है जिसे राक्षसी भूख भी कहा जाता है।

कहते हैं इच्छाओं का कोई ओर-छोर नहीं होता। एक के पूरी होते न होते दूसरी सिर उठाकर खड़ी हो जाती है। आकाश की तरह इच्छायें असीम और अनंत हैं। महत्वाकांक्षा को इच्छाओं का परिष्कृत रूप कह सकते हैं। एक किशोर/किशोरी का सपना होता है वो डॉक्टर बने या खिलाड़ी बने अर्थात् उस उम्र के अनुरूप कुछ बनने की चाह। महत्वाकांक्षा की अपेक्षा में व्यक्ति अपनी वर्तमान स्थिति से बेहतर की कामना ही करते हैं और इसके लिये ठोस प्रयत्न भी करते हैं। केवल सपने देखते हुए समय नहीं बिता देते। इसीलिए महत्वाकांक्षी होना बुरा नहीं है। अब तो बच्चों के माता-पिता भी बच्चों की महत्वाकांक्षा और रुझान पर अधिक ध्यान देने लगे हैं। लीक से हटकर बच्चों को रिस्क लेते हुए देखकर एकदम टोक नहीं देते।

सामान्यता महत्वाकांक्षा उस इंसान के लिए एक जीवन-मरण के प्रश्न की तरह महत्वपूर्ण होती है। अपनी उस महत्वपूर्ण आकांक्षा को पूरा कर या प्राप्त कर जीवन में किसी खास पड़ाव पर पहुँचना चाहता/चाहती है। कुछ ऐसा हासिल करना जो उसे व उसके जीवन को ऊँचा उठा दे, जो अपनी इस तरह की महत्वाकांक्षा को हासिल कर लेता है उसकी भौतिक परिपूर्णता से अधिक मानसिक परिपूर्णता का स्वर मुखर होता है। जोकि इंसान को सुसंस्कृत, उदार व दूसरे अनेक गुणों से परिपूर्ण करती है। वर्तमान में हर कोई अपने बूते से ऊँची छलाँग लगाने को तैयार है। उसकी इच्छायें अनंत है। अनंत हो भी तो ये अपने-अपने व्यक्तिगत स्तर की बात है पर अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने में एक अधीरता और गंभीरता का अभाव दिखता है। आज कुछ चाहा और चार दिन में कुछ ऐसा चमत्कार हो जाये कि चाह की पूर्ति हो जाये। यही नहीं अपनी चाह पूरी होगी या नहीं यह जानने को ज्योतिष का सहारा, नग या कीमती पत्थरों का सहारा व किस ईश्वर की उपासना करें ताकि फल की प्राप्ति तुरंत हो। फल की प्राप्ति का अर्थ ये है

कि आप अमीर होते जायें, भौतिक रूप से सम्पन्न होते जायें। भले ही मानसिक रूप से खोखले या रीते होते जायें, वो तो धन की मदद से ढंक लिया जायेगा। इस तरह की सोच और ऐसे कदम इंसान को वास्तविक प्रगति की ओर कभी नहीं ले जा सकते हैं।

आप संगीत भी सीखना चाहते हैं, चित्रकार भी बनना चाहते हैं, खिलाड़ी भी और लेखक बनना तो ऐसे लोगों के लिए बायें हाथ का खेल है। शौक पालना और उन्हें पूरा कर पाना सबके बस की बात नहीं है। सो शौक या जिसे 'हॉबी' भी कह सकते हैं, पूरा कर सकें तो खुश होना चाहिये। पर अगर आप चाहें और ये इच्छा करें कि हर कला के शीर्ष पर आप हों और जो चाहे मिल जाये तो ये असंभव ही है। अति इच्छा रखना और अपनी हद से अधिक महत्वाकांक्षी होना, फिर इन आकांक्षाओं का पूरा न होना कितने ही तरह की मानसिक रोग पैदा कर रहा है। ऐसी व्याधियां जिनमें अवसाद प्रमुख है तथा जहाँ झूठ, कपट, छल आदि हैं, जो मनुष्य को केवल नकारात्मक राह की ओर ले जाता है। यही नहीं इनके कारण समाज भी व्याधिग्रस्त और खोखला हो रहा है।

प्राचीन कहावत, 'तेते पांव पसारिये जेते चादर होय' को हम वर्तमान समयानुसार अप्रासंगिक मान सकते हैं। क्योंकि व्यक्ति चादर को उतना ही रखते हुए पैर को सिकोड़ लेगा पर क्रमशः उन्नति के लिये चादर को भी तरीके से क्रमशः बड़ा करते जाना चाहिये। यह क्रमशः उन्नति परिश्रम, दूरदर्शिता और सही सोच से ही प्राप्त होती है, वो जल्दबाजी या अधीरता से कभी नहीं मिलती, ना ही मिल सकती है।

महत्वाकांक्षा का अर्थ ही है, महत्वपूर्ण आकांक्षा, याने ऐसी आकांक्षा जिसे आप प्राथमिकता या वरीयता दें। जब प्राथमिकता वाली बात उठती है तो स्वतः ही कोई भी एक आकांक्षा सर्वप्रथम होगी। तब आप पूरा ध्यान उस पर केन्द्रित करेंगे और पूरा कर पायेंगे। बाकी इच्छायें शौक के रूप में रहेगी। अगर महत्वाकांक्षा को सही अर्थ और सही परिपेक्ष्य में लिया जाये तो व्यक्ति और समाज की परिपूर्ण उन्नति हो सकती है, जो जीवन को न केवल भौतिक सुख दे बल्कि आत्मिक सुख, शांति और जीने का सही अर्थ भी दे। तभी व्यक्ति की सकारात्मक सोच बेहतर होती जायेगी तथा व्यक्तित्व का विकास भी सही दिशा में होगा। जिसे हम सम्पूर्ण विकास कह सकते हैं।

●●●

अवसाद एक अंधा कुआँ

अचानक खबर आई कि विवेक की तबीयत काफी खराब है और उसे अस्पताल में भर्ती किया गया है। विवेक इनके चाचा का लड़का है, चालीसवें वर्ष को छूता हुआ। बेहद मेहनती और निर्व्यसनी। केवल अपने संगीत और लेखन में रमा हुआ। फोन पर खबर करने वाले को जल्दी थी और वैसे भी देखने जाना ही था, सो अधिक पूछ नहीं पाई। पर इस बीच मन में अनेक कुशंकाओं ने जन्म ले लिया था। आजकल दिन का दौरा उम्र का लिहाज किए बिना किसी पर भी धावा बोल देता है या कोई दुर्घटना तो नहीं हुई।

अस्पताल पहुँचे तो देखा कि विवेक पलंग पर इस तरह पड़ा था मानो किसी ने शरीर की सारी शक्ति निचोड़ ली हो। डॉक्टरों, नर्सों और वॉर्ड-बॉय का आना-जाना और तरह-तरह की जाँच के लिए नमूने लेने का क्रम चल रहा था। विवेक की पत्नी के चेहरे पर चिंता और थकान की छाप स्पष्ट देखी जा सकती थी। पर उससे भी कहीं बढ़कर एक छाया जो चेहरे पर फैली थी वह भी असमंजस की। विवेक की छाती में हल्का दर्द हुआ और साँस लेने में तकलीफ। डॉक्टर का संदेह था कि दिल के दौरे का प्रारंभिक स्वरूप हो सकता है, सो अस्पताल में भर्ती करवा दिया। सारी जाँचों और परीक्षणों का लब्बो-लुआब ये निकला कि डिप्रेशन या अवसाद के कारण यह तकलीफ हुई। इसके विपरीत अर्थात् तकलीफ के कारण भी मरीज अवसाद में डूब सकता है। इस तरह अवसाद एक बीमारी ही बन गई।

मनोचिकित्सक डिप्रेशन या अवसाद को एक गम्भीर बीमारी के रूप में लेने लगे हैं। किसी भी तरह की बीमारी से पीड़ित मरीज को अगर अपनों का स्नेह, स्पर्श और सान्निध्य मिले तो इलाज आसान हो जाता हैं और जल्दी असर करता है। कई चिकित्सक अपने वाक् चातुर्य से एवं मृदु व्यवहार से मरीज को अपने विश्वास में ले लेते हैं। तब चिकित्सा का असर शीघ्र होता दिखता हैं खासकर जो बीमारी दिमाग या दिल से संबंधित हो, उसे तो स्नेह और प्रेम की माँग कुछ अधिक ही होती है। ऐसे मरीज अधिकतर भावुक किस्म के यानी 'टची' होते हैं।

और छोटी-सी बातों से दिल को व्यथित कर लेते हैं। अवसाद से ग्रस्त अधिकतर लोग अपने इसी स्वभाव, आदत तथा आकांक्षा की अति के कारण इसका शिकार होते हैं।

एक महिला बहुत ही प्रतिभाशाली व स्मार्ट थी, हमेशा ही दो नावों पर सवार रहती। उसे सदा लगा करता कि वह ये कर लेगी, वो कर लेगी और न जाने क्या पा लेगी। लगता था वह कल्पना और स्वप्नों के बीच ही जी रही थी उसकी आकांक्षाओं का कोई ओर-छोर नहीं था। प्रारम्भ में तो घर और बच्चों के साथ अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति भी कर पा रही थी। पर जब सबका सम्मिलित बोझ अधिक हो गया तो झल्लाहट और चिड़चिड़ाहट के मारे जो हो सकता था या हो रहा था, उस पर भी विराम लग गया। अब कुछ न कर पाने का गम उसे और उसके शरीर को सुखा रहा है। चिकित्सकों ने तो एक राय से मत पारित कर दिया कि वह 'डिप्रेशन' की शिकार हो गई है।

पहले भी लोग अपनी आकांक्षाएँ व कामनाएँ पूरी न होने पर दुखी हुआ करते थे। कुछ ऐसे भी भावुक होते थे, जो दुःख के अतिरेक में अपनी दुनिया को लुटा हुआ समझते थे। पर ऐसे लोगों की संख्या कम हुआ करती थी। इसका एक प्रमुख कारण तो यही लगता है कि आज की तरह लोग पहले केवल खुद के लिए नहीं जीते थे। पूरे परिवार और उसके सदस्यों की खुशियों और नाराजगी का ख्याल रखा जाता था। वर्तमान में तो हम छोटे बच्चों तक को यही सिखा रहे हैं कि स्वार्थी बनो, केवल अपने लिए जियो। बच्चों की एक जरा-सी इच्छा पूरी न होने पर वे कितना दुखी होते हैं पता नहीं, पर माता-पिता और बड़े तो उस माँग की पूर्ति के बिना जीवन को व्यर्थ ही मान लेते हैं। स्कूल-कॉलेज में पढ़ने वाला हो या नौकरी करने वाला छोटा हो या बड़ा यहाँ तक कि वृद्ध जिनका जीवन कुछ वर्षों का ही होता है, सब अवसाद के शिकार हो रहे हैं। आदमी मलेरिया के मच्छर के काटने से मलेरिया का शिकार इतनी आसानी से नहीं होता होगा, जितना कि डिप्रेशन का। कुछ माता-पिता केवल इसलिए डिप्रेशन का शिकार हो जाते हैं कि उनके बच्चे पी.एम.टी., पी.ई.टी. या किसी चयन परीक्षा में नहीं आ सके। बच्चों के विवाह में थोड़ी-सी देरी भी वे बर्दाश्त नहीं कर पाते और अपने संसार को लुटा हुआ मान लेते हैं।

इन्सान में कुछ कर गुजरने की इच्छा, आकांक्षा होनी चाहिए। कुछ बनने की तमन्ना और जीवन में ऊँचा उठने और उन्नति करने की इच्छा और आशा होनी चाहिए। वह आदमी तो मृत समान है जिसकी कोई चाह न हो या जो अपने

मुकाम से उन्नति न करना चाहता हो। पर क्या हर उभरता कलाकार उस क्षेत्र के शीर्षस्थ कलाकार के समकक्ष हो सकता है? चाहे कला, शिक्षा, व्यापार का क्षेत्र हो या कोई अन्य क्षेत्र, प्रत्येक को मेहनत, लगन से अपना काम करते जाना है। हम जहाँ से चले थे, वहाँ से एक सही तरीके और सही गति से आगे बढ़ रहे हैं, यानी ठीक कर रहे हैं। अब हिमालय को हम जब भी देखेंगे सिर ऊँचा कर देखना पड़ेगा। उस ऊँचाई तक पहुँचना प्रत्येक के लिए सम्भव नहीं है। पर कभी-कभी पीछे मुड़कर देख लेना चाहिए ताकि पता चले कि हम कहाँ थे, जिससे हौसला मिलेगा वरना यही लगता रहेगा कि हमने न कोई दूरी तय की न ऊँचाई नापी। जहाँ यह भावना मन में आ जाती है तो अवसाद घर करने लगता है।

प्रारम्भ में अवसाद क्षणिक होता है और मित्रों के साथ या भली और अच्छी संगत में इंसान एकसारंगी भूल ही जाता है। पर जब ये क्षण लम्बे होते जाते हैं तो व्यक्ति जो कार्य कर रहा होता है, वह भी सही और संतोषजनक तरीके से नहीं कर पाता। व्यक्ति अपने आपको एक आवरण में कैद कर लेता है। उसके आस-पास घने कोहरे की तरह अवसाद का आवरण रहता है। बाकी लोगों को लगता है कि फालतू ही देवदास की तरह मुँह लटकाए बैठा रहता है और वे उस व्यक्ति से कतराने लगते हैं।

हर व्यक्ति की मेहनत, समझ और योग्यता की सीमा अलग-अलग होती है। इसके अलावा दो व्यक्तियों में एक जैसा सब कुछ होने पर भी प्राप्ति अलग-अलग हो सकती है और होती भी है। व्यक्ति को कुछ तो संतोष रखना ही पड़ता है। फिर स्वयं को सही आँकना, जिसे अंग्रेजी में 'असेस' करना कहते हैं, बहुत महत्वपूर्ण है। कई बच्चे या बड़े भी परीक्षा देने के बाद आश्वस्त रहते हैं कि परीक्षाफल बहुत अच्छा आएगा, जब इसके विपरीत होता है तो उन्हें लगता है कि वे ठगे गए हैं। ऐसा जब कई बार होता है तो उसका अर्थ ही यह है कि व्यक्ति ने अपने आपको सही नहीं आँका है पर व्यक्ति तो इसे अपने साथ साजिश मानकर दुःख में डूब जाता है।

माना कि संतोष से आदमी की उन्नति रुक जाती है। पर जहाँ आप कुछ कर नहीं सकते यानी अपनी मेहनत, बुद्धि और पूरी क्षमता झोंकने के बाद जो प्राप्ति है, उस पर संतोष तो करना पड़ेगा। हम केवल तकनीकी कमियों से लड़ सकते हैं। जो प्रारब्ध है, उससे कैसे लड़ें!

कोई भी बीमारी हो, डॉक्टर दवा बता सकता है और रोगी की परिचर्या में लगे लोग उसे ठीक कर लेते हैं। पर अवसाद की कोई ऐसी ब्रांड दवाई नहीं होगी।

किसी भी व्यक्ति को निराशा के गर्त में जाने से रोकना और हौसला देते रहना, अवसाद की स्थिति को आने से रोक सकता है। हौसला भी अप्रत्यक्ष रूप से देना उचित होता है, जिससे संबंधित व्यक्ति को यह अहसास न होने लगे कि उसे मरीज माना जा रहा है। आखिर अवसाद एक अंधे कुएँ में गिरने से बचाना चाहिए। किसी कारण से कुएँ में गिर ही गए तो भी यही स्नेह उसे बाहर निकालने में भी काम आएगा।582'1

●●●

सारे रिश्ते सिमट गये रह गया रिश्ता नर-नारी का

एक समय था जब संयुक्त परिवार हुआ करते थे—चाचा, ताऊ और अन्य रिश्तेदारों का जमघट लगा रहता था, परिवार के सारे लड़के और लड़कियों के बीच एक ही रिश्ता होता था—भाई और बहन, फिर वो चचेरे, ममेरे, बुआ, ताऊ किसी के भी बच्चे हों, जिसे अंग्रेजी में सरलता से एक शब्द में बोला जा सकता है—कजिन, पर हिन्दी के भाई-बहन शब्द में जो मिठास है, वो और कहाँ मिलेगी। ऐसा रिश्ता, जिसमें राखी की पवित्रता की खुशबू हो। एक समय वह भी था, जब गाँव की कन्या गाँव के हर घर की पुत्री मानी जाती थी। गाँव की महिलाओं और लड़कियों की इज्जत सबकी इज्जत होती थी, इन रिश्तों में जो मिठास थी, वो आज न जाने कहाँ गुम होती जा रही है।

ऐसे देश में जहाँ धन की अधिष्ठात्री लक्ष्मी हो, विद्या की सरस्वती, वीरता की दुर्गा, धान्य की अन्नपूर्णा और देश को भारत माँ का गौरवपूर्ण संबोधन मिलता हो, घर की देवी का अपमान क्यों हो रहा है? क्यों सीता और अन्नपूर्णा जलाई जा रही है? क्यों घर की इज्जत को लाज को इतनी निर्लज्जता और निर्दयता से कुचला जा रहा है, क्यों हर पवित्र रिश्ते कलंकित हो रहे हैं?

जरा-जरा-सी बच्चियों के साथ पशुवत व्यवहार करना सगी भांजी, भतीजी, चचेरी, ममेरी, मौसेरी बहनों से बलात्कार करना, यहाँ तक कि मामी, भाभी जैसे रिश्ते भी इस कलंक से बच नहीं पाये।

एक समय था, जब गाँधी जी ने अपना साफा नदी में धोते हुए उस स्त्री की तरफ बहा दिया, जिसके पास तन ढँकने को पर्याप्त वस्त्र नहीं था, अब किसी नारी को जो किसी की माँ, बहन, बेटी भी है, नग्न कर गाँवभर में घुमाया जाता है, असभ्यता की चरमसीमा को छूने वाले इस कृत्य से तो किसी भी देश का सिर शर्म से झुक जाना चाहिये।

क्या कारण है कि देश की वो जनसंख्या जिसे बाकी आधी जनसंख्या का

रक्षक माना जाता है, रक्षक के बजाय भक्षक बनती जा रही है? क्या पुरुष वर्ग नारी के सबला रूप से खार खा रहा है या डर गया है, मानसिक रूप से बीमार हो रहा है और बौखला रहा है। अपने आपको नारी से श्रेष्ठ साबित करने के लिए पुरुष के पास क्या यही एक अस्त्र बचा है?

यह हालत चिंतनीय तो है ही, चिन्तन करने की भी है कहीं ऐसा न हो जाये कि माएँ त्रस्त होकर नर भ्रूण-हत्या करने पर आमादा हो जायें, क्योंकि अत्याचार की पराकाष्ठा पर अन्नूपर्णा, लक्ष्मी, सरस्वती ही दुर्गा और चंडी, काली और महिषासुर मर्दिनी का रूप धारण कर लेती है।

●●●

सही अर्थों में स्वतंत्रता

हमारे यहाँ राष्ट्रीय पर्व से जुड़ने का मतलब है, वो व्यक्ति सेना, पुलिस, शिक्षा विभाग से संबंधित कर्मचारी है, सरकारी अन्य विभागों में भी जहाँ प्रातः झंडावंदन में उपस्थित के लिए सर्कुलर घुमाया जाता है, बस मामूली-सी उपस्थिति होती है। महिला कर्मचारियों को तो छोड़िये पुरुष कर्मचारी भी कम ही होते हैं। यह दिन महज छुट्टी का एक दिन होता है जिसे मौज-मजे में बिताने का मौका समझा जाता है।

कितनी ही बार झंडा का उलटा लगा होना या समय पर खुल न पाना आदि से रूबरू होते हैं। इस तरह की अव्यवस्था अगले दिनों खबरों में पढ़ते-सुनते और हाँ, भारतीयों की खास फितरत, चर्चा करते और भूल जाते हुए साल निकल जाता है। अगले साल फिर उसी भाग-दौड़, उसी तरह की अव्यवस्था या कुव्यवस्था में मन जाता है राष्ट्रीय पर्व।

महिलाएं खासकर गृहिणियाँ कभी भी अपने आपको इन राष्ट्रीय पर्वों से जुड़ा हुआ महसूस ही नहीं कर पाती। बहुत हुआ तो स्कूल जाते बच्चों के लिए यूनिफार्म तथा जूते-मोजों का रखरखाव हो जाता। अब तो बच्चे-बड़े, नर-नारी कोई भी इन राष्ट्रीय पर्वों से कम ही जुड़ा हुआ महसूस करते हैं। बस रस्म अदायगी रह गयी है।

एक समय था, जब राष्ट्रीय पर्व को धार्मिक पर्व से अधिक प्रमुखता दी जाती थी। धार्मिक पर्व तो व्यक्ति अपने हिसाब से व्यक्तिगत तौर पर मनाता है। उस समय इसमें आडंबर, पाखंड या दिखावा नहीं था, वरन् मनोयोग से पूर्ण की गयी धार्मिक रस्में होती थीं, परन्तु राष्ट्रीय पर्व सामूहिक रूप से मनाते हुए भी लोगों के मन में व्यक्तिगत रूप से भी इनके प्रति मोह होता था। बच्चों से लेकर बड़ों तक सबके दिलों में उत्साह व उमंग होती थी। शायद इसलिए क्योंकि देश को आजाद हुए कम समय हुआ था और गुलामी की पीड़ा उन्होंने भोगी थी। कहते हैं दुःख के बाद सुख या दर्द के बाद इलाज से जो परम सुख प्राप्त होता है, वो

भुक्तभोगी ही जान सकता है। इन पर्वों में सारी महिलाएं भले ही सशरीर शामिल न हो पाती थीं, पर उनके मन में एक उत्साह उमंग होता था। इसका कारण भी यही हो सकता है कि उन्होंने गुलाम भारत को देखा था, भोगा था। देश को आजाद करने की आग इनके भी सीने में थी।

स्वतंत्रता संग्राम में भी अनगिनत महिलाओं ने अपना सब कुछ दाँव पर लगाया था। वे पुरुषों से वीरता और साहस में तनिक भी पीछे नहीं थीं, जबकि इन्हें सदैव ही कोमलांगी ओर नाजुक माना जाता रहा है। अधिकांश बहनों के नाम इतिहास में आये नहीं, इनका उल्लेख न होने पर भी इनकी महत्ता घट नहीं सकती। इन्हें 'अनसंग' हीरोइन्स कह सकते हैं। पर बहुत से प्रमुख नाम भी हैं, जिन्होंने पुरुषों की बराबरी से इस लड़ाई में हिस्सा लिया। झाँसी की रानी की वीरता को तो एक कवियित्री आदरणीय स्व. सुभद्रा कुमारी चौहान ने अपनी लंबी कविता में अमर कर दिया। रानी चेन्नमा, बेगम हजरत महल, कस्तूरबा गाँधी, दुर्गा भाभी, लक्ष्मी स्वामीनाथन—कितने ही नाम हैं। इनमें आजाद हिंद फौज की लक्ष्मी स्वामीनाथन भी है जिन्होंने रानी झाँसी रेजीमेंट की अध्यक्षता की। दूसरी तरफ चौदह वर्षीय बालिका नाना धुंधूपंत पेशवा की बेटी मैना भी है। उस बालिका के साहस, स्वाभिमान, आत्मगौरव व राष्ट्रप्रेम का अंदाजा इसी बात से लगा सकते हैं कि उसे जब निर्दयी अंग्रेजों ने जीवित जलाया, तब भी उसने अपने पिता नाना साहब का पता नहीं दिया।

एक ऐसा देश, ऐसा राष्ट्र, जिसका इतिहास वीरता, साहस और संघर्ष से भरा पड़ा है, ढेरों वीरांगनाएँ बिना उफ किये चिता पर चढ़ जाती थीं। वहीं इन राष्ट्रीय पर्वों के प्रति उपेक्षा या उत्साह की कमी अखर सकती है। पर जब बात पर मनन करें, चिंतन करें, विचार करें तो लगता है कहाँ बदला कुछ, महिलाएँ तो अभी भी स्वतंत्र होने को लड़ रही हैं।

वर्तमान में महिलाओं को अपने ही भाई-बंधुओं से अपने ही देशवासियों से सतत लड़ना पड़ रहा है। कहने भर को महिलाएं स्वतंत्र हो गयी हैं, पर इन्हें अंधविश्वासों, अशिक्षा के अलावा निज स्वाभिमान, निज चिंतन की स्वतंत्रता तथा निज व्यक्तित्व को बनाये रखने को लगातार लड़ना पड़ रहा है।

दुश्मन से लड़ना सरल है, पर अदृश्य दुश्मन (जैसे अंधविश्वास) तथा अपने ही बाँधवों से लड़ते रहना अत्यंत कठिन है। इसकी परीक्षा तो महिलाएँ प्रतिदिन देती आ रही हैं। लगातार इनमें उत्तीर्ण होना नामुमकिन तो नहीं, पर बहुत कठिन है, फिर भी गिरने के बाद भी बार-बार खड़ा हुआ जा सकता है, फिर ये तो सतत प्रयत्न है, जिसे किये बिना महिलाएँ वास्तविक रूप से स्वतंत्र नहीं हो सकती है।

●●●

रेशमी धागे और इनकी प्रतिष्ठा

हर वर्ष रक्षाबंधन का त्यौहार आता है। बहनें भाइयों को राखी बांध नजर उतारकर मुँह मीठा करवा देती है। भाई भी मशीनी ढंग से उपहार दे देता है। उधर रेडियो और टी.वी. के कार्यक्रमों में भाई-बहन के स्नेह, पर रिश्ते पर दो-चार गीत बज जाते हैं। एक बालिका एक बालक को राखी बाँध रही है। ये चित्र प्रकाशित कर व पाठकों को त्योहार की शुभकामनाएँ देकर समाचार-पत्र भी अपना फर्ज पूरा कर लेते हैं। अगले दिन ये खबर अवश्य प्रकाशित होती है कि रक्षाबंधन का त्योहार शहर में हर्षोल्लास के साथ मना। टी.वी. चैनल्स के न्यूज में भी इसी तरह का कुछ अंदाज रहता है।

क्या रक्षाबंधन का उद्देश्य मात्र इतना ही है। अपने शाब्दिक अर्थ से ही जो अपने उद्देश्य को स्पष्ट करता है, क्या उसे इस तरह सीमाबद्ध कर निपटाना उचित है? इसके प्रतीकात्मक अर्थ की व्यापकता को हम इस तरह सीमा में कैद करके अपना ही नुकसान तो नहीं कर रहे। एक समय था जब एक विदेशी मुगल शासक को राजपूत रानी ने राखी भिजवाकर रक्षा की गुहार की। कहने को केवल रेशमी धागे का तंतु पर उसमें निहित गूढ़ अर्थ को एक विदेशी शासक तक समझ जाता है, कितना पावन रिश्ता बना देता है। ऐसा रिश्ता जिसे और किसी नजरिये से देखा ही नहीं जा सकता। ऐसा रिश्ता जिसमें किसी तरह के स्वार्थ की गंध नहीं, दूसरे के लिए केवल अच्छी कामनाएं, शुभकामनाएँ ही मन में हों।

ऐसे धागे का नर्म सुकोमल तंतु क्षत-विक्षत क्यों हो रहा है। ऐसा देश जहाँ गाँव के हर घर की बेटी पूरे गाँव की पुत्री मानी जाती थी, गाँव के एक घर की बहू पूरे गाँव की लाज और मर्यादा मानी जाती थी। उंसी लाज और मर्यादा का अवगुंठन क्यों खोल रहा है पुरुष? अपने घर की स्त्री को बेवजह, नाहक अधिक मोटे पर्दे में रखना चाहता है।

किसी भी देश का इतिहास लिखा जाता है तो उसे पढ़कर, जानकर उसकी अच्छाइयों को लेने की और बुराइयों को तजने की बात होती है। चूँकि सही अर्थों

में तो इतिहास घटना प्रधान और तथ्यपरक होता है सो उसमें वहीं कुछ होगा जो घटा होगा। पर उसका दुरूपयोग होता है तो इतिहास में तथ्यों को तोड़-मरोड़कर और गलत पेश करने का सिलसिला शुरू हो जायेगा। किसी स्त्री को निर्वस्त्र कर उसे द्रोपदी का दर्जा देना तो पुरुषत्व नहीं है। क्या इतिहास से प्रताप, शिवाजी, भगतसिंह और आज़ाद की वीरता और मानसिकता नहीं ले सकते?

राखियाँ पहले की अपेक्षा अधिक ही बिकने लगी हैं क्योंकि मुँह बोले भाई बहुत बनने लगे। बहनें भी राखियों पर अधिक पैसे खर्च करने लगी हैं। फैंसी राखियों की बाढ़ आयी हुई है। चाँदी की राखी, चाँदी पर सोने का पानी चढ़ी राखियाँ भी खूब बिकने लगी हैं। राखियाँ नाप में बड़ी हो गयी है और दाम में भी। उसी तरह भाई बहन को जो उपहार देता है, उसका स्वरूप भी बदल गया है। होड़-सी लगी है कि कौन भाई अपनी बहन को कितना कीमती तोहफा देता है।

जहाँ होड़ वाली बात आ जाये तो संवेदनशीलता कहाँ बचती है? फिर ऐसे में इस धागे का मूल्य क्या रह जाता है?

उधर भाई के मन में भी बहन के प्रेम, पवित्र नाते की बात का महत्व धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। केवल एक परिपाटी के तौर पर राखी बँधवाने का कार्यक्रम रह गया है। एक नीरस, कभी-कभी तो बोरियत से भरा जिसमें न कोई उत्साह है, न कोई उमंग, बस घर के बुजुर्गों के कहने से, उनके दिखावे का आदर भर देने की रस्म अदायगी होती है।

कोई भी धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए सबसे पहले संकल्प लिया जाता है। संबंधित व्यक्ति और उसके परिवार के सदस्यों की कलाई में पीला या लाल-पीला धागा बाँधा जाता है। इस धागे का महत्व दो तरह से होता है। एक तो आप अनुष्ठान पूर्ण मन से करेंगे, दूसरा ये धागा आपको व आपसे संबंधित लोगों को विघ्न-बाधाओं से बचाने के रक्षा-कवच की तरह है। रक्षाबंधन में भी कमोबेश यही मनोभाव होता है। बहन भाई को बुरी बला से बचाने व भाई के स्वास्थ्य और खुशहाली की कामना ही तो करती है। वर्तमान युग की बुरी बला क्या है सिवाय अनैतिकता और भ्रष्ट आचरण के।

क्या भाइयों के मन में बहनों के प्रति निश्छल प्रेम की सरिता फिर बह सकती है? बहनें अपने सगे ही नहीं देश के सारे भाइयों पर विश्वास कर सकती है? तथा देश के तमाम भाई इस धागे का असली मूल्य पहचानकर इस रेशमी धागे की गरिमा को बहाल कर सकेंगे? क्या इस वर्ष का रक्षाबंधन भाइयों के मन में

सात्विक प्रेम जगायेगा? देश के तमाम भाई-बहन राखी के पवित्र विश्वास पर खरे उतरे ताकि कोई बहन किसी भाई को शक की नज़र से न देखे और राखी की लाज अक्षुण्ण रह जाये, तभी इस त्योहार को मनाने की सार्थकता सही अर्थों में होगी और धागे का असली और सही महत्व स्थापित होगा।

क्या इस रक्षाबंधन पर हम सब आशा कर सकते हैं कि रेशमी धागे का यह मीठा सुकोमल और स्नेहिल बंधन असली रंग लायेगा? तपे सोने की तरह।

●●●

बदलते सांस्कृतिक मूल्यों को भी सहेजें

याद आता है पांच दशक पहले का अपना वो शहर। जो इतना अपना था कि जब छुट्टियों में बंबई (तब) या अहमदाबाद जाते और वहाँ कोई इन्दौर को गांवड़ा (गामड़ा) कहता तो सहन नहीं होता था। ताल ठोककर हम भाई बहन इसके विरोध में खड़े हो जाते। जबकि हम बच्चे उस समय अच्छे से जानते थे कि इन्दौर शिक्षा और अन्य कई बातों में इन बड़े-बड़े शहरों की बराबरी नहीं कर सकता था। पर यहाँ लोगों के बीच बिना किसी भेदभाव के अपनापन और स्नेह की एक अजस्र धारा बहती थी। जो अधिकांश चेहरों पर मुस्कान और चमक की आभा फैलाये रखती थी। मानो, पूरा शहर न भी हो, पर हर मोहल्ला अपने आप में एक संयुक्त परिवार की मानिंद था।

तीस वर्षों तक इन्दौर के बाहर रहकर जब यहाँ बसने आई तो शहर का विस्तार देख चकित और प्रसन्न हो गई। पर धीरे-धीरे ये भी समझ आ रहा था कि लोगों के बीच की स्नेह की धारा सूखने लगी थी। पिछले पाँच-सात वर्षों में, देखते ही देखते, इस शहर पर बाजारवाद का मुलम्मा बहुत तेजी से और बहुत गाढ़ा चढ़ गया। पूरा शहर यूं हो गया मानों बाहर से लिपी-पुती और नींव से चूहों द्वारा कुतरी खोखली-कमजोर इमारत हो। शहर संवेदनाविहिन, आत्मविहीन-सा लगने लगा। पुरानी इमारतों (धरोहरों) को सहेजने की चिन्ता तो की जाती रही है। पर लगता है भावी पीढ़ी को सही सोच, सही दिशा देने और दिमाग को परिपक्व करने के लिये अधिक कुछ नहीं कर पाये। यह पीढ़ी दिशाहीन होकर उलझनों से घिरी रहती है तो इसमें पिछली पीढ़ी की कुछ भूल-चूक भी इसका कारण है।

कुछ ऐसे परिवार भी हैं जो महानगर में बसने या नौकरी के लिए नहीं जाना चाहते थे। उनका ख्याल था कि इन्दौर में बच्चों को संस्कार मिलेंगे। बच्चे संस्कृति और संस्कार से जुड़े रहकर भी प्रगतिशील विचारों को ग्रहण कर सकेंगे। उनके हिसाब से महानगर में यह बहुत हद तक असम्भव होता। यूं तो हमेशा

से ही ये दावे किये जाते रहे हैं कि संस्कृति भुरभुरी मिट्टी नहीं है कि एक धक्के में बिखर जाये। पर शहर का बद से बदतर होता माहौल इस दावे की खिल्ली उड़ाता-सा लगता है। एक पल में इन्सान की इज्जत सरेआम नीलाम हो रही है। न कोई घर में महफूज है ना बाहर।

माना कि मानव का स्वभाव चंचल होता है। लेकिन सांस्कृतिक मूल्य ही नैतिक आदर्शों की सहायता से उसके व्यक्तित्व में स्थिरता लाते हैं। क्योंकि जीवन का विकास सांस्कृतिक मूल्यों की समृद्धि से ही होता है। गतिशीलता सांस्कृतिक मूल्यों की एक विशेषता है। जिसमें प्राचीन मूल्यों का नये मूल्यों से संबंध स्थापित होता है। यह पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है। इसे हम एक अच्छे मायनों में, संस्कृतियों का घालमेल कह सकते हैं। अगर वर्तमान पीढ़ी आधुनिक सभ्यता के 'उन्माद' से बचकर इस अमूल्य संस्कृति के मूल्यों को समझे और जीवन में ढाल कर व्यावहारिक रूप दे तो समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी इकाई बन सकता हे। वहीं बुजुर्ग नई पीढ़ी के मन को समझें, आज की आवश्यकता के अनुरूप उनकी अन्य बातों की ओर ध्यान दें तो एक आदर्श फ्यूज़न परिवार बन सकता है। कई पीढ़ियां साथ में एक छत के नीचे प्रसन्नता और शांति से रह सकती है।

आज कला के हर क्षेत्र में कुछ (term) शब्द बहुत प्रचलित हैं। जैसे कोलाज, फ्यूज़न सिम्फनी। सिम्फनी (symphony) तो लंबी रचनाओं के लिए वाद्यवृंद के बड़े दल के साथ होती ही आ रही है।

क्या जीवन भी एक 'सिम्फनी' नहीं है? खासकर भारतीय परिवेश का ताना बाना परिवार के साथ इस तरह गुंथा हुआ, बुना हुआ है कि परिवार की अनेक पीढ़ियां मिलकर इसके वाद्यवृंद को नियंत्रित करते हैं।

●●●

बूफे

किशोरावस्था में माँ और पिताजी को शादी या किसी अन्य उत्सव में जाते देखकर मन में सुंदर कल्पनाएं उठती थीं। फिल्मों की तरह खूब सजा हाल, हीरो-हीरोइन का गाना और न जाने क्या-क्या। कुछ बड़े होने पर उनके साथ जाने का मौका मिला तो लगा कितनी फीकी पार्टी है। सबके हाथ में नाश्ते की प्लेट थमा दी जाती, जिसमें दो मीठी, दो नमकीन चीजें होती थीं। तब कल्पना किया करती थी कि अपनी शादी के बाद इनके साथ शानदार पार्टियों में जाऊँगी।

अब तो हर आयोजन में खड़े-खड़े खाने का ही रिवाज हो गया है। कई मेजें या एक बड़ी मेज पर विभिन्न किस्मों के व्यंजन अलग-अलग डोंगों में रखे रहते हैं। एक तरफ प्लेटें व खाने के चम्मच मेज पर रखे रहते हैं। लोग अपने हाथ से प्लेट और चम्मच लेकर अपनी-अपनी प्लेट व्यंजनों से सजा लेते हैं फिर मेज से हट जाते हैं और बतियाते हुए खाते हैं, इसे बूफे कहते हैं।

यह रिवाज मूलतः फ्रांस से आया है। वहाँ के अभिजात वर्ग के लोग इस प्रकार का आयोजन कर अपने-अपने समाज में पहचान का दायरा बढ़ाते थे और अपनी प्रसिद्धि भी। व्यापार या कंपनी की बात या किसी अन्य मामले की चर्चा आदि भी कर लेते थे। सिर्फ खाने के उद्देश्य से ही ये पार्टियां आयोजित नहीं होती थीं, बल्कि बातों के बीच में ही थोड़ा-सा खा लिया जाता था। फ्रांस से अमरीका, इग्लैंड आदि पाश्चात्य देशों से यह रिवाज भारत भी आया।

पाश्चात्य देशों में इन पार्टियों के लिये निमंत्रण मिलने पर लोग इसे अपना आदर समझते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उस दिन रात के खाने का झंझट नहीं करना पड़ेगा। साथ ही आमंत्रण जिस मतलब से होगा, उसी के अनुसार परिवार के व्यक्ति जाएंगे। जैसे व्यापारिक या कम्पनी के सिलसिले में पार्टी दी जा रही हो तो निमंत्रण-पत्र में साफ-साफ लिखा होगा कि पति-पत्नी दोनों को आना है अथवा दोनों में से जो कम्पनी से संबंधित हो सिर्फ उसे।

बच्चों को तो ऐसी पार्टी में बुलाने का सवाल ही नहीं उठता। अन्य पार्टियों

में भी पति-पत्नी ही जाते हैं। अगर खासतौर पर बच्चों के लिए निमंत्रण न हो तो ऐसी पार्टियों में पति-पत्नी वास्तव में मानसिक रूप से ताजादम हो जाते हैं। कुछ चर्चाएं, कुछ हंसी-मजाक और कुछ नई जानकारी के साथ एक सुखद शाम का एहसास होता है।

हमारे यहाँ इसका जो रूप दिखाई देता है, उसे महसूस करने के बाद ऐसी किसी पार्टी की शाम उबाने वाली और निरर्थक ही लगती है। अभी कुछ ही दिन पहले लेखिका को ऐसा ही एक कटु अनुभव हुआ था। लेखिका के परिचित के पुत्र की शादी की पार्टी थी। इंतजाम काफी बड़े पैमाने पर हुआ था। दो शामियाने लगे हुए थे। एक में रात के खाने का प्रबंध था। मेजें लगी हुई थीं और प्रत्येक मेज पर व्यंजनों का अंबार लगा हुआ था। उन व्यंजनों से उठती महक किसी भी व्यक्ति की भूख जगाने को काफी थी।

लेखिका अपनी एक परिचिता के साथ बातें करती हुई आराम से मेज की तरफ गई। तब तक मेज पर काफी भीड़ जुट चुकी थी। लेखिका एक प्लेट और चम्मच हाथ में लिए इस प्रतीक्षा में थी कि आगे के लोग अपनी प्लेट में खाना डालकर हट जाएँ तो वह भी अपनी प्लेट सजा ले। पर यह मौका आया ही नहीं। न सामने के लोग मेज छोड़ने को तैयार थे, न हम अपनी शर्म। डोंगे खाली हो कर दोबारा भर-भर कर फिर खाली होते गए।

शालीनता का अभाव

सभी मेजों पर कमोबेश यही हाल था। खाने की मात्रा में कहीं कोई कमी नहीं थी। पर हमें गिद्धों की तरह झपटने की बजाए भूखा रहना ही उचित लगा। बड़े शालीन तरीके से हमने अपनी बिना उपयोग की गई प्लेट व चम्मच को मेज के नीचे इस तरह रखा, मानो खा लिया।

'बूफे सिस्टम' का जो असली मकसद है, वह तो पूरा ही नहीं हुआ। खुद ही खाना परोस लेने के कारण गृहिणी का दायित्व काफी कम हो जाता है। साथ ही एक साथ सबका खाना भी हो जाता है। इस तरह समय की भी बचत होती है। खाने के सामान की फजूलखर्ची रोकने के लिए यह बड़ा अच्छा तरीका है, क्योंकि जिसे जितना चाहिए या जो पसंद हो, वह अपनी इच्छानुसार अपनी प्लेट में परोस सकता है। बड़ी-बड़ी पंगतों में बिठाकर परोसने में जहाँ समय और श्रम बेकार होता है, उतना ही पत्तल में बचा हुआ खाने का सामान भी।

पर इस तरीके यानी 'बूफे सिस्टम' के कारगर सिद्ध होने के लिए इनके कुछ नियमों का पालन करना भी जरूरी है।

सबसे मुख्य और पहली बात यह कि यदि शाकाहारी और माँसाहारी दो वर्गों के लिए अलग-अलग मेजें हैं तो मालूम करके अपनी मेज पर जाएं। यह अच्छा नहीं लगता कि बिना ध्यान दिए पहले माँसाहारी मेज पर जाएं और फिर नाक-भौं सिकोड़, मुंह बिचकाकर शाकाहारी की तरफ। आपके लिए जिस तरह सब्जी या दाल मायने रखता है, उसी तरह माँसाहारी के लिए उसके अन्तर्गत आने वाले व्यंजन।

अपनी प्लेट में इतना कम भी न लें कि मुंह झूठा हो जाए बस, या दोबारा मेज तक जाना पड़े, न ही व्यंजनों का पहाड़ प्लेट में सजा लें और सारा ध्यान उस पर लगा लें कि किस तरह उसे जल्दी से जल्दी उदरस्थ करें।

सबसे खास और जरूरी बात यह कि आप अपनी प्लेट में खाना लेने के बाद मेज से दूर हट जाएं ताकि आपके पीछे वालों को भी अपनी प्लेट में सामान परोसने का मौका मिल जाए।

इसके बाद आता है परोसी हुई प्लेटों को साफ करने, यानी खाना खाने का काम। यह कदापि न करें सारा ध्यान खाने पर ही हो। यानि निगाहें प्लेट पर जमी हुई रहें और हाथमुंह का युद्ध जारी रहे। आपके आसपास परिचित हों तो उनसे हल्की-फुल्की बातें करें। 'हल्की-फुल्की' का अर्थ यह नहीं कि स्तरहीन या बेमतलब की बातें हों।

यदि आपके आसपास अपरिचित लोग हों तो उनसे परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न करें। आपके पसंद का संगीत न बज रहा हो तो मुंह फुलाकर या बिचका कर अप्रसन्नता जाहिर न करें, खाते समय चम्मच से प्लेट की टकराहट की आवाज कम से कम हो या यथासम्भव हो ही नहीं।

खाना खत्म करके प्लेट को मेज के नीचे या नियत जगह पर रखें। यदि हाथ धोना हो तो उपयुक्त जगह देखकर धोएं, न कि गिलास में हाथ डुबो कर।

सौंफ, सुपारी या पान लेकर वहाँ से निकलने से पहले गृहिणी या जिम्मेदार व्यक्ति से मिलकर धन्यवाद देना और उनके प्रयास की सराहना या प्रशंसा करना न भूलिए।

इन छोटी-छोटी बातों को ध्यान में रखकर सही अवसर तथा समय के अनुसार व्यवहार करें तो सचमुच यह शाम एक हसीन शाम होगी, जिसकी याद आपको उत्साह से भर देगी।

●●●

बच्चों का आत्म-विश्वास कम न करें

एक नवजात शिशु भी अपनी आवश्यकता को रोकर या किसी और तरह से बता ही देता है। कई बार हम अपनी पैतृक बुद्धिमानी और समझ से उसकी आवश्यकता को सही-सही आंक नहीं पाते। जब भी कोई बच्चा कहता है—'मैं ये करना चाहता हूँ' या 'मुझे ऐसा करना है', घर के बड़ों की प्रतिक्रिया अधिकांशतः नकारात्मक रहती है।

'तुम्हें नहीं मालूम ये कैसे करते हैं', 'तुम नहीं कर पाओगे' 'तुम छोटे हो, जब बड़े हो जाओगे तब करना'। बच्चा उत्साह से कहता है 'मैं तैरना सीखूंगा' पिता का त्वरित उत्तर होता है, 'ओह, नहीं तुम तैरना नहीं और कुछ सीखो। तुम्हें पढ़ाई के लिये अपनी एनर्जी बचाकर रखनी है ना!'

पिता या घर के बड़ों के मन में कोई पूर्वाग्रह या कोई घटना या हादसे के कारण कुछ कुशंका हो, जिस कारण उनका व्यवहार बच्चे के साथ ऐसा रहता हो। पर बच्चे का तो न केवल उत्साह खत्म होता है, बल्कि उसका आत्म-विश्वास भी कमजोर पड़ता है। पिता के मन में बच्चे के प्रति अति सुरक्षा का भाव हो तो वो भी उसको हानि पहुँचाता है। अगर पिता/माता किसी कारण से बच्चे की चाही बात या माँग को पूरा करने में असमर्थ भी हों तो तुरन्त नकारने के बजाय ये कह सकते हैं—'हां बेटा/बेटी मैं देखता हूँ कि कैसे प्रबंध कर सकते हैं। तुम्हारी पढ़ाई में भी अड़चन न हो और हम अन्य बातों को भी ठीक से जमा लें।'

पालकों का इस तरह का उत्तर बच्चे के मन में उनके प्रति स्नेह और आदर की वृद्धि करेगा। साथ ही बच्चों के मन में नकारात्मकता का भाव नहीं उपजेगा, जिससे उनके आत्म-विश्वास में भी कमी नहीं होगी। पांलकों के लिये यह कतई आवश्यक नहीं है कि बच्चों की हर इच्छा या माँग को पूरा किया ही जाये। पर ऐसे मामलों में पालकों का संवेदनशील तथा व्यावहारिक तरीके से मामले को सुलझाने से बच्चा स्वयं भी समझदार होगा। तब उसका आत्म-विश्वास भी डगमगायेगा नहीं।

आठ वर्ष का संजय जोश और उत्साह से भरा हुआ स्कूल से आता है—'मम्मी, कल हमारे यहा स्पोर्टस् डे' है। मैंने अपना नाम 200 मीटर की रेस में लिखवा दिया है, आप बताइये न मैं और कौन से खेलों में हिस्सा लूँ।'

बच्चे के ऐसे रूप को प्रत्यक्ष देखते हुए कोई भी माँ स्वयमेव ही जोश से भर जायेगी। पर एक असंवेदनशील व नादान माँ का तो सदैव की तरह बच्चों पर हावी होता हुआ जवाब ही होगा—'तभी तो जनाब फूले हुए गुब्बारे की तरह उड़ रहे हो। बस खेल, कामिक्स और कार्टून। पढ़ाई के अलावा बाकी सबके लिए समय भी है और इच्छा भी। इस वर्ष अच्छे 'मार्क्स' नहीं लाये तो आपका स्कूल ही बंद करवा दूँगी। फिर बनना तांगेवाला या रिक्शावाला।'

संजय का खुशी से दमकता चेहरा एकदम निष्प्राण-सा हो जाता है। पिन चुभाये गुब्बारे की तरह सारी चमक खो बैठता है। बच्चे का मायूस चेहरा देखकर किसी का भी दिल रोने की तरह सारी चमक खो बैठता है। बच्चे का मायूस चेहरा देखकर किसी का भी दिल रोने लगेगा। शिक्षा और पढ़ाई का महत्व तो हमेशा रहा है व रहेगा। लेकिन क्या खेल या शारीरिक व्यायाम का भी लगभग उतना ही महत्व नहीं है? खेल हो या कला या अन्य रचनात्मक या सृजनात्मक क्रियाओं वाला कोई भी क्षेत्र व्यक्ति के लिए उतना ही महत्वपूर्ण है जितनी शिक्षा। उपरोक्त घटना में माँ अपने बेटे की मानसिक व शारीरिक दोनों सेहत का भला कर सकती थी। खेल में स्वास्थ्य का महत्व तथा स्वास्थ्य में खेल का महत्व दोनों को रेखांकित कर सकती थी। वो कौन से खेलों में अच्छा कर सकता है ये सुझाने के अलावा दूध, सब्जी, दालों को खाने से उसकी पढ़ाई तथा खेलों में कैसे लाभ मिलेगा ये बता सकती थी। माँ के आत्मीय व्यवहार से बच्चा माँ को अपना हितैषी मित्र मानने लगता है जिसका असर किसी भी क्षेत्र में बच्चे के कार्यकलाप में अच्छा ही होता है।

इंसान किसी भी उम्र का क्यों न हो, कुछ न कुछ गलतियाँ कर ही देता है। पर जब कोई बच्चा गलती करता है तो बड़े उसको इस तरह डांटते या मारते हैं कि वो अपनी ही नजरों में गिर जाता है। कई बार तो ऐसे बच्चे अपना आत्म-विश्वास पूरी तरह खोकर अपराध बोध में जीने को बाध्य हो जाते हैं। बच्चे को स्वयं की बात या पक्ष रखने का मौका भी नहीं मिल पाता। ऐसे में माता-पिता एक मासूम तन और कोमल मन को कच्चे घड़े की तरह तोड़ चुके होते हैं जिसकी आवाज उनके कान तक पहुँच ही नहीं पातीं। कई बार दूसरे-तीसरे के सामने माता-पिता का यह व्यवहार बच्चे को हीन भावना से भर देता है। बड़ों को ये कभी

नहीं भूलना चाहिये कि एक भयभीत बच्चा ही इन हालातों से बचने के लिए झूठ बोलना प्रारम्भ करता है। ये सारे हालात बच्चे के आत्म-विश्वास को चकनाचूर कर देते हैं।

न जाने क्यों हम बड़े हमेशा ही चाहते हैं कि बच्चे कोई भी काम हमारे तरीके से ही करें। जबकि ये पहल सही नहीं है। कई बार तो बच्चे किसी काम को बड़ों से भी अच्छा करके दिखाते हैं। कम से कम बच्चे के काम करने का तरीका क्या है ये तो देखना और परखना चाहिये। अगर सही में एक ही काम को वो हमसे अधिक अच्छा करते हैं तो बात को प्रतिष्ठा का सवाल न बनाकर सभ्य और सौम्य तरीके से मान लेना चाहिये। हो सकता है उनका तरीका अपनाने से हमारा ही लाभ हो रहा हो। ऐसे हालात में आप परोक्ष रूप से बच्चे का आत्म-विश्वास भी बढ़ाने वाले होंगे।

माता-पिता को जो मुख्य बात याद रखने की है वो ये है कि सदैव बच्चे में, बच्चे की हर हरकत में कमी ढूँढ़ते रहने की आदत कदापि न हो। साथ ही अपशब्दों और खराब नामों से उसे कोसते रहना भी ठीक नहीं। बहुत से पालक, खासकर पिता बच्चों को 'गधा' 'उल्लू का पट्ठा' और भी कई तरह की उपाधियों व विशेषणों को लगाकर बात करते हैं। हंसी-मजाक में भी यह परिपाटी सही नहीं है। हमें बच्चों पर एक पहरेदार या रखवाले कुत्ते की तरह नज़र रखकर नियंत्रण नहीं करना चाहिये। बच्चे के जीवन में अन्धाधुन्ध दखलंदाजी बच्चे को तुनुकमिजाज एवं अधैर्यशील बना देती है। ऐसे बच्चे आपकी बात या आज्ञा का पालन मात्र डर के दबाव में करते हैं ना कि आदरस्वरूप। जिसका असर यही होगा कि दोनों के बीच दरार से खाई बन जायेगी। बच्चा एक गैरजिम्मेदार, हताश, निराश और अंत में बुरा नागरिक बन सकता है।

कुछ माता-पिता बच्चों के प्रति अतिसुरक्षा की भावना से ग्रस्त रहते हैं, वे ये भी नहीं जानते कि बच्चे का झुकाव किस तरफ है, पसंदगी-नापसंदगी क्या है। क्या बस स्वयं को बच्चे के लिए एक कवच या जिरह बख्तर मानते हैं। पालक के बच्चे को स्वभाव, उसकी शारीरिक व मानसिक़ क्षमता को जानना और पहचानना बहुत आवश्यक है, जिससे उसे सही दिशा दे सके। साथ ही उसकी क्षमता से अधिक उससे पाने की झूठी आकांक्षा न करें वरना उसका आत्म-विश्वास खत्म होकर हीनभावना या अवसाद में धंस जायेगा। आगे चलकर ऐसे बच्चे ही बिना किसी सही दशा और दिशा के अनुशासनहीन युवा बनकर समाज को दूषित करते हैं। बड़ों का या माता-पिता का सलाह या मशविरा देना उचित है पर वहीं

तक जहाँ आप बच्चे की सोच को बाधित न करते हुए उसे भी अपने विचार रखने की छूट देते हों। इससे निश्चित ही उनकी सोचने की शक्ति के साथ आत्म-विश्वास भी बढ़ेगा।

सबसे प्रमुख और अंतिम बिंदु है, बच्चों के बीच सदा तुलनात्मक उक्तियों का प्रयोग न करना। बगीचे में अनेक प्रकार के सुंदर फूल होंगे, सबकी अपनी खासियत, अपनी खूबियां होती हैं पर है तो सभी मन मोहते, नयानाभिराम पुष्प ही ना। उसी तरह समाज में आपको कई तरह के बालक/बालिकायें मिल जायेंगे, सभी अपनी-अपनी तरह से खास हैं अगर सारे फूल या सारे बच्चे एकदम एक से हो जायें तो ये दुनिया नीरस नहीं हो जायेगी, उदास नहीं लगने लगेगी? हमें अपने बच्चे में छुपी हुई उस खूबी को खोजना होगा और उस दिशा में उसका साथ देना होगा। फिर देखिये उसमें भरे आत्म-विश्वास के सागर को, उस सागर को जो बड़ों के गलत व्यवहार व नादानी से सूख कर खत्म हो रहा था।

●●●

स्पेस

क्या है स्पेस, इसका अर्थ क्या है? सीधे-सादे शब्दों में इसका अर्थ जगह से है। अंतरिक्ष को भी स्पेस कहते हैं। भीड़ में आदमी का दम घुटता है जब भी जगह या स्पेस बनाने की बात होती है। मोटेतौर पर जगह बनाने को भौतिक रूप से आंका जाता है। मन में चाहे उन्नति के रास्ते तय करने को बॉस के दिल में जगह बनानी हो या जीवन के रास्ते फलांगने में हमराही का चुनाव करना हो। साथ के दूसरे लोगों के मन में जगह बनाने की बात भी कम मायने नहीं रखती। अगर जीवन को प्रशस्त करना हो, कुछ हासिल करना हो तो हर व्यक्ति को जीवन के किसी न किसी पड़ाव पर इस तरह की कवायद करनी ही पड़ती है। यह एक तरह का सामंजस्य है जो इंसान अधिकांशतः इच्छापूर्वक करता है। ऐसे हालातों में दोनों पक्ष साधारणतया संतुष्ट रहते हैं। यही सामंजस्य जीवन रूपी गाड़ी की 'ओवरहॉलिंग' करके सरलता से दौड़ने में मदद करती है।

क्या कभी रिश्तों के बीच 'स्पेस' देने की बात को हम महत्व देते हैं? शायद सोचते भी नहीं हैं। हर रिश्ते को निभाने में एक संतुलन बनाने की आवश्यकता होती है। किसी भी रिश्ते में कितना आगे बढ़ना है, कितना सहज रहा जाये ये उस रिश्ते पर निर्भर करता है। इस तरह के संतुलन से 'स्पेस' बनता है जो व्यक्ति के लिए ऑक्सीजन का काम करती है। जिससे लोग साथ रहते हुए भी घुटन महसूस नहीं करते। पति-पत्नी के, माता-पिता या बच्चों के साथ कितना भी नजदीकी रिश्ता क्यों न हो यह संतुलन आवश्यक है।

छोटे बच्चों को भी ऐसे संतुलन की दरकार होती है। कितनी ही बार माँ के अत्यधिक लाड़ प्यार या अनुशासन में बच्चा अपने आपको 'सफोकेटेड' अर्थात् घुटता हुआ महसूस करता है। ऐसा इसलिए होता है कि माँ अपने वात्सल्य और ममता को उड़ेलते हुए बच्चे पर अपना आधिपत्य मानने लगती है। इसी तरह पति-पत्नी या दूसरे सम्बन्धों में भी जब तक बंधन स्नेह पर आधारित होते हैं दोनों स्वतंत्रता महसूस करते हैं। जहाँ एक दूसरे पर अधिकार या हक जताने वाली बात

होने लगती है तो घुटन भरा वातावरण पैदा हो जाता है। अहं का टकराव, दमन और भी न जाने क्या-क्या अनचाहा महसूस होता है। ऐसा संवेदना की कमी से होता है।

'स्पेस' देने में संवेदना की भूमिका बहुत अहं है। आप सम्बन्धित व्यक्ति से मन से, दिल से जुड़े हैं, पर, उस पर हावी नहीं है, ये भाव होना चाहिये। 'स्पेस' का अर्थ दूरी से लगा कर तटस्थ नहीं होना है। तटस्थ होने का अर्थ दूरी बनाकर उस व्यक्ति के किसी मामले में रुचि न दिखाना होता है। जबकि 'स्पेस' देने में सम्बन्धित व्यक्ति पर बिना भार बने, लदे बिना ये जताना कि हम आपके दुख-सुख में सदैव साथ हैं। खासकर दुख में बनते कोशिश मदद करना वो भी बिना हावी हुए।

अंग्रेजी के पांच अक्षरों से बना यह शब्द 'स्पेस (space)' रिश्तों में मिठास बनाये रखने में जादू की गोली का काम करता है। इसे व्यवहार में अपनाकर हम महसूस कर सकते हैं कि बिना अधिक मशक्कत के प्राकृतिक खुशी मिल रही है। साथ ही जीवन के अनेकों तनावों से छुटकारा भी मिलता है।

●●●

पुस्तकें क्या कहती हैं?

पुस्तक मेले में ठठ की ठठ उमड़ी पड़ी जनता और पुस्तकें खरीदते उनके हौसले देखते ही बनते हैं। ये भी खबर है कि दिल्ली में आयोजित हुए पुस्तक मेले में पुस्तकों की बिक्री का प्रतिशत, पिछले कुछ वर्षों के मुकाबले बहुत बढ़ा है। पुस्तकों की वैरायटी इतनी अधिक हो गई है जो लगभग हर उम्र, हर रुचि के लोगों का समाधान कर रही है। टी.वी. व इन्टरनेट के आगमन से जो खतरा पुस्तकों के आसपास मंडरा रहा था वो भी झूठा साबित हो गया। याने पुस्तकें पढ़ी जा रही हैं और खरीदकर पढ़ी जा रही है। ये हालात पुस्तक पढ़ने के महत्व को रेखांकित करते हैं।

प्राचीन समय में गुरुमुख से शिष्य विद्यार्जन करते थे। वही शिष्य अभ्यास करते-करते गुरु बन छोटों को ज्ञान देते थे। ज्ञान पीढ़ी दर पीढ़ी इसी तरह परावर्त होता रहा। फिर क्रमशः लिपिबद्ध करने व छपने का दौर आया। ज्ञान प्राप्त करना अपेक्षाकृत सरल लगने लगा। पुस्तकें आ गई 'चाहे जब पढ़कर जाना जा सकता है' वाली मनःस्थिति हो गई।

दिमाग की खुराक ज्ञान प्राप्त कर, मन में उठी जिज्ञासाओं को शांत कर ही मिलती है। अब तो टी.वी. और इन्टरनेट पर भी ज्ञान (खूब) मिल रहा है। पर ज्ञान के अलावा बहुत कुछ अनचाहा भी मिल रहा है। हालांकि अब तो पत्र-पत्रिकाओं में भी बहुत कुछ अनचाहा आ रहा है। न देखना-पढ़ना चाहो भी नज़रों में कंकड़ की तरह करकता है। पर फिर भी पुस्तकों का अपना महत्व है जो कभी कम न होगा। पुस्तकों के महत्व पर अनगिनत उक्तियां हैं, सूक्तियां हैं। मसलन–

'पुस्तकें ज्ञान का भंडार हैं'
'किताबों की तरह दूसरा मित्र नहीं'
'पुस्तकें हमें दुनियाभर की सैर कराती हैं'
'पुस्तकें अच्छे जीवन की नींव का आधार है।'

तभी तो पुस्तकों पर लिपी अंकित करने वाली कलम को तलवार से अधिक शक्तिशाली माना गया है। कलम के रूप भले बदलते रहे हों, पर यदि वो अनवरत् न चलती तो क्या हमें महाभारत, रामायण, श्रीकृष्ण की गीता तथा अनेकों दूसरे ग्रन्थ और ज्ञान और मनोरंजन का खजाना मिल पाता? इसी से पुस्तकों का महत्व स्पष्ट हो जाता है और पुस्तकें सदियों पुरानी संस्कृति व संस्कार की वाहक हैं। हमें इतिहास और हमारे पुरखों से मेल करानी वाली कड़ी भी हैं।

स्व. कमलेश्वर ने कहा है 'वह साहित्य मलिन और मुर्दा है जो अपने समय के सपनों को संभाल और संजो नहीं पाता। साहित्य आत्मा की नैतिक शर्तों को बदलता है।' ये तो तय है कि कोई भी साहित्य हम तक, जन-साधारण तक पुस्तकों द्वारा ही पहुँचता है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने लेखन द्वारा ही तो जागरण मंत्र दिया था—'हम कौन हैं, क्या हो गये, और क्या होंगे अभी, आओ विचारें' आज मिलकर ये समस्यायें सभी।

इंसान दिमागी फितरत वाला जीव है। चिंतन और चिंता और इससे संबंधित पहलुओं पर उसके विचार चलते रहते हैं। अक्सर ये विचार भागते हुए होते हैं जो आसानी से सम्यक या समग्र रूप में पकड़ नहीं आते हैं। पुस्तकें पढ़ते या लिखते में इन भागते, भगौड़े विचारों को ठौर मिलता है। स्थिरता मिलती है। साथ ही विचारों की सम्प्रेषणीयता बढ़ जाती है।

मनुष्य की संस्कृति और संस्कार यात्रा हो या प्राचीन से आधुनिकता की यात्रा, इन पुस्तकों में सहेज कर रखे हुए ज्ञान से प्राप्त कर रहे हैं और करते रहेंगे। कुछ लोग कह सकते हैं कि अब तो इन्टरनेट का युग है। ठीक है, इन्टरनेट पर लगभग सारी जानकारी मिल जाती है। पर तनिक सोचिये—हर इंसान इन्टरनेट पर ही निर्भर रहे तो एकदम एक सा ही लिखा पढ़ा नहीं जायेगा? साथ ही बिना प्राण या संवेदना के मृत जानकारी सा नहीं लगेगा?

पुस्तकों की सबसे बड़ी खासियत है इसे आप सुविधापूर्वक अपने साथ कहीं भी ले जा सकते हैं। इसके साथ इन्टरनेट की तरह बिजली, तार व कम्प्यूटर का कोई ताम-झाम नहीं होता है। जो पुस्तकों का महत्व समझते हैं, सदैव अपने आसपास कुछ अच्छी पुस्तकें रखते हैं। आपको डॉक्टर के यहाँ कतार में लगना हो, यात्रा में जाना हो या कहीं और जहाँ आपको पता है कि आपके पास पर्याप्त ऐसा समय रहेगा जिसे आप व्यर्थ जाने नहीं देना चाहेंगे। आप पुस्तकें अवश्य ले जायेंगे। क्या आप कम्प्यूटर को बगल में दबा कर या थैली में डालकर

सुविधापूर्वक हाथ हिलाते हुए जा सकते हैं? कुतर्क हो सकता है कि 'हां, लैप-टॉप है ना!' पर कम्प्यूटर और लैप-टॉप कितने लोगों के पास होता है। जनसाधारण से लेकर अरबपति तक आँखों और मन को शीतलता प्रदान करते हुए ज्ञान की पिपासा को कोई शांत कर सकता है तो वो है पुस्तकें।

एक तमिल चिंतक व लेखक श्री रामामृतम ने पुस्तक को जिस तरह परिभाषित किया है, उससे पुस्तक और उस पर छपते शब्दों का एक काव्यमयी संगम दिखता है।

उनका कथन है—लेखन दैवीय बांसुरीवादन की तरह है। इस बांसुरी में शब्द रूपी प्राण की आहुति फूंकने पर अनेकानेक नाद प्रस्फुट होते हैं। यही नाद लेखन में ढल जाता है, फिर पुस्तक रूप लेता है। ऐसा लेखन पुस्तकों को सुर या दैवत्व प्रदान करता है।

मैंने कई उम्र के लोगों, कई तबकों के लोगों से पूछा—'वो पुस्तकें क्यों पढ़ते हैं?' पहली प्रतिक्रिया तो मुस्कराहट से दी, उन्हें लगा कुछ मजाक हो रहा है। फिर अलग-अलग लोगों के अलग-अलग जवाब थे। जो स्वाभाविक था। कुछ ने कहा—टाइम पास, कुछ ने—आनंद के लिये, मजे के लिये, ज्ञान वृद्धि, ज्ञान प्राप्ति और भी बहुत से जवाब। नवसाक्षरों ने कहा—हमें सीख मिलती है और भी अनेकों उत्तर मिल सकते थे। संभवतः सभी जवाब सही भी होंगे। याने पुस्तकें कितना कुछ प्रदान करती हैं जो शायद हम पढ़ते-पढ़ते इंसान मानसिक रूप से परिष्कृत, परिपक्व, संवेदनशील होता जाता है।

लेखक रस्किन बांड ने अपनी पुस्तक में एक जगह लिखा है कि इंसान का व्यक्तित्व आसपास के वातावरण को प्रभावित करता है। इसके बरअक्स बेहतर ही बनायेगा। ऐसी हालत में पुस्तकें भी भोजन की तरह आवश्यक हो उठती है। कभी कोई ये पूछता है क्या कि खाना क्यों खाये? शिशु पैदा होते ही दूध पीना सीख जाता है, पेट भरना सीख जाता है। पेट की तरह मस्तिष्क की खुराक पुस्तकें ही तो हैं।

पुस्तकों को पढ़ने का महत्व सदा रहा है और सदा रहेगा। संक्षेप में कहें तो—
पुस्तकें हमें जीने का सलीका सिखाती हैं।
पुस्तकें हमें दुनिया जहाँ से मिलाती हैं।
पुस्तकें ही तो हमारे जीवन को संवारती हैं।

●●●

कच्ची उम्र के सपने कितने अपने

सपना शब्द कहते-सुनते ही इन्सान एक काल्पनिक दुनिया में झाँकने लगता है। कहते हैं, नींद में जो सपने देखे जाते हैं, वो रंगीन नहीं होते, पर हम जो सपना पालते हैं या जागने में देखते हैं, वो हमेशा सतरंगी और इंद्रधनुषी आभा लिए ही होते हैं, फिर किशोरावस्था में सपनों का तो क्या कहना, किशोरावस्था याने नादान, अल्हड़ उम्र का दौर, बहुत कुछ पा लेने, कर गुजरने का महज पाला हुआ सपना। पाला हुआ, इसलिए कि हकीकत से सामना हो जाने पर सपना, सपना नहीं रह पाता।

इस उम्र में लड़के-लड़की दोनों ही सपने पालने का शौक रखते हैं। दिवास्वप्न देखना इस उम्र में कुछ अधिक ही होता है। लड़कों का तो बाहरी दुनिया से वास्ता अधिक पड़ता है। इसलिए ये हकीकत से जल्दी रूबरू हो जाते हैं, पर लड़कियाँ स्वभाव से भी अधिक भावुक होती हैं और बाहर निकलने का 'एक्सपोजर' का मौका भी अपेक्षाकृत कम मिलता है। ऐसे में वो अपने दिल की कई इच्छाएँ इन सपनों में पूरा करने का भ्रम पाल लेती हैं। सपना देखना और देखकर खुश होने में न पैसा खर्च होता है न कोई दूसरा जान पाता है। सो इन अल्हड़ किशोरियों से सपने बेलगाम घोड़ों की तरह दौड़ पड़ते हैं।

सपने देखना बुरी बात नहीं है, बल्कि हर इन्सान चाहे, वो किसी भी उम्र का हो, का एक स्वप्न होना चाहिए। जीवन में जीने की चाह पैदा करने के लिए ये स्वप्न अतिआवश्यक हैं। आदमी में जीने की ललक ही नहीं होगी, तो जीवन में वो कुछ कर ही नहीं सकता। जीवन की इसी ललक के लिए या जीवन को सपाट और अर्थहीन होने से बचाने के लिए ये सपने मदद करते हैं पर अल्हड़ और कच्ची उम्र की लड़कियों के सपने तो 'उनके ऑक्सीजन', याने जीवन वायु प्रदान करते हैं।

वैसे ही ये सपने हमेशा ही कुछ पाने और खुशी उल्लास का ही होता है। कोई भी दुःख का या खोने का सपना नहीं देखता, फिर इस उम्र में तो ये बालाएँ

अपनी सारी इच्छाओं की पूर्ति इन सपनों में करने लगती हैं। किसी गायिका को देख-सुनकर खुद गायिका होने का सपना पाल लेना, या अपनी कोई प्रिय अध्यापिका जैसा अपने आपको महसूस करना, फिल्मों की नायिका की जगह अपने आपको प्रतिस्थापित कर खुद को महान मानना तो इस उम्र की खास दशा है। याने अपने सामने किसी भी सफल व्यक्ति को पाकर उसकी जगह अपने आपको रखकर कल्पना में खुश होना ऐसे सपनों से समय की बर्बादी अवश्य होती है, पर अधिकांश उदाहरणों में गंभीर हानि कम ही होती है।

वरन् एक आदर्श को सामने रखने से कई बार इन्हें आगे चलकर राह चुनने में मदद मिलती है। बशर्ते उसमें अपने आदर्श व्यक्ति की तरह प्रतिभा छिपी हुई हो और वो उस प्रतिभा को विकसित करने की ओर ध्यान दें। ऐसे समय में लड़की को कोई सही राह दिखाने वाले के अलावा उत्साहवर्द्धन करने वाला और अपनी प्रतिभा की सही पहचान करने में मदद करने वाला भी होना चाहिये। क्योंकि यही वो नाजुक दौर है, जब लड़की को झूठी प्रशंसा और रंगीन जीवन का आईना दिखाकर भूल-भूलैया में फँसाया जा सकता है।

इस दौर में ये किशोरियाँ सामने वाले से बहुत जल्द प्रभावित हो जाती हैं। खासकर विपरीत सेक्स से, फिर चाहे वो व्यक्ति किसी भी उम्र का क्यों न हो, सामने वाले की किसी एक अदा पर इस तरह मर मिटेंगी कि उसके बाकी गुण-अवगुण कुछ भी उसे नजर नहीं आयेगा, यही समय उसकी परीक्षा की घड़ी होती है, जब कोई उसे बहला-फुसलाकर गलत राह पर ले जा सकता है। माँ, बड़ी बहन या भाभी की बात या समझाइश उसे कुनैन की तरह कड़वी लगेगी। उसका भला चाहने वालों को वो दुश्मन समझेगी।

ये समय इन अल्हड़ बालाओं की माँ के लिए भी कठिन दौर और अग्नि परीक्षा से कम नहीं होता। अगर माँ सख्ती करती है, तो इन लड़कियों का गलत कदम उठाने का डर रहता है। उस पर चौकसी या निगरानी भी इस तरह करनी पड़ती है कि वो भाँप न जाये कि उस पर नजर रखी जा रही है। दूसरी तरफ इनका दिल न टूटे, इसका भी ख्याल रखना पड़ता है, क्योंकि इस उम्र में हर तरह की भावनाओं का बड़ी जल्दी प्रभाव होता है। जिस तरह वे रंगीन और खुशनुमा सपने में एकदम खोकर एकसार हो जाती है, वैसे इनके दिल को ठेस भी बड़ी जल्दी लगती है, जरा-सी बात से कब, किस तरह इनके दिल को चोट पहुँच जाये, कहा नहीं जा सकता। 'इम्पलसिव नेचर' इस उम्र की खासियत होता है, जिसमें परिपक्वता और गंभीर सोच की कमी रहती है। इसलिए इस उम्र की लड़कियाँ जरा-जरा-सी बात पर आत्महत्या जैसे कदम उठा लेती हैं।

कक्षा में फेल होना, अपनी पसंद की फिल्म देखना न मिलना, अपनी खास सहेली के दुःख से द्रवित होना, किसी बच्चे के दुःख या बीमारी से या किसी पशु-पक्षी के दुःख का तर होना और इन हादसों को जीवन-मृत्यु का आधार बना कर भीषण कृत्य कर, इस मनोस्थिति में इन्हें कुछ समझाना या रोकना बहुत कठिन होता है। इनसे निपटने के लिए बहुत सूझबूझ से काम लेना पड़ता है, जरा-सी चूक से इनके भटकने का अंदेशा बढ़ ही जाता है।

वैसे तो उम्र के तेरहवें सोपान में से उन्नीस तक किशोरवय माना जाता रहा है और माना जाता है कि महानगरों की किशोरियाँ शारीरिक ही नहीं मानसिक रूप से भी जल्दी परिपक्व हो जाती हैं, बाहरी दुनिया से जल्दी लगातार और अधिक सम्पर्क होने से यथार्थ के धरातल का आभास शीघ्र हो जाता है, वैसे अठारह वर्ष में उसे वयस्क माना जाता है, तो एकदम नासमझ तो होने का सवाल ही नहीं है। एक तरह से जीवन की जटिलता ने इन किशोरियों को समय से पहले वयस्क, परिपक्व और समझदार बना दिया है।

अन्य नगरों और प्रदेशों की राजधानी व प्रदेश के नगरों में भी पत्रिकाओं, फिल्मों ने इन किशोरियों को पहले की तरह एकदम भोली और नासमझ तो रहने नहीं दिया, पर इन पर अनुशासन और मर्यादा की बंदिश का जोर अभी भी है। बड़ों के सामने अपनी इच्छा को दबाने या खुलकर न बोलने का जज्बा अभी जीवित है। इच्छाओं को दमन करना या बड़ों के सामने नकली आदर के रूप में अपने आपको भोला और नासमझ बताने या दिखाने का सिलसिला जब तक जारी रहेगा, तब तक इस उम्र के सपनों का सतरंगा इंद्रधनुष फीका नहीं पड़ेगा।

●●●

ऊँची उड़ान में पंख न झुलसें

आकांक्षाओं या इच्छाओं के बिना कोई भी प्राणी अपनी जीवंतता का अहसास कैसे दिला सकता है। मीडिया और बाजारवाद के विस्फोट से जो प्रलोभन पैदा हो रहे हैं वह सबसे बड़ा कारण है, असीमित इच्छाओं को अकल्पनीय पंख देने के लिये।

आम आदमी चाहता है अधिक से अधिक धन कमाकर भौतिक सुविधाओं और विलास की वस्तुओं से घर भर दें। सुविधा के नाम पर प्रारम्भ होकर आदत के बतौर अंतहीन सुविधा का महीन जाल बिछ जाता है। आकांक्षाओं की साधारण लालसा की भूख प्राकृतिक न होकर अति में हो जाती है तो राक्षसी भूख का रूप ले लेती है।

इच्छाओं का कोई ओर-छोर नहीं होता पर इनमें एक परिष्कृत इच्छा भी होती है। वह है महत्वाकांक्षा। जैसे बच्चों को डॉक्टर, इंजीनियर या किसी भी क्षेत्र में स्थापित कराना। स्वयं की किसी महती रुचि को पूर्ण करना। एक खास पड़ाव पर पहुँचने के लिए उक्त महत्वाकांक्षा को पूर्ण करना जीवन का मकसद बन जाता है। इसे हासिल कर लेने पर व्यक्ति को मानसिक परिपूर्णता का अनुभव होता है। आजकल महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने में गम्भीरता का अभाव व अधीरता की अधिकता नजर आती है। आज कुछ चाहा और चार दिन में ऐसा चमत्कार हो जाये कि चाह पूरी होगी या नहीं यह जानने के लिए ज्योतिष, कीमती नगों का सहारा व किस ईश्वर की आराधना करें आदि तय होता है। फल प्राप्ति का अर्थ होता है भौतिक रूप से सम्पन्न होते जाएं, भले ही मानसिक रूप से खोखले हो जायें।

प्राचीन कहावत 'तेते पांव पसारिए, जेते चादर होय' वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अप्रासंगिक है। उन्नति के लिए चादर को भी तरीके से बड़ा करना ही होगा। यह उन्नति, परिश्रम, दूरदर्शिता और सही सोच से ही सम्भव है।

महत्वाकांक्षा का अर्थ ही है महत्वपूर्ण आकांक्षा यानी ऐसी आकांक्षा जिसे प्राथमिकता मिले। जिस पर सारा ध्यान केन्द्रित होगा और तभी वह परिपूर्ण होगी।

महत्वाकांक्षा को सही अर्थ और सही परिप्रेक्ष्य में लें तो व्यक्ति और समाज की सही अर्थों में प्रगति निश्चित है। उसमें मानवीय गुणों का समावेश करने से आत्मिक सुख, शांति और जीने का सही अर्थ प्राप्त होगा।

व्यक्तित्व का विकास भी सही दिशा में होगा, तभी—महत्वाकांक्षा संतोष देगी और राक्षसी भूख में परिवर्तित नहीं होगी। बिना सोचे समझे मात्र ऊँची उड़ान भरने से पंखों को क्षति पहुँचेगी ही। फिर आप बिना पंख के कौन-सी उड़ान भर पायेंगे!

●●●

यही समय है, कुछ कर गुजरने का

क्या ग्लैमर जगत की चकाचौंध ने इतना अंधा कर दिया कि हम शिष्टता और अशिष्टता का अंतर ही भूल गए। लाखों-करोड़ों कमाने वाले फिल्म एवं टी.वी. वालों की आँखों का पानी तो मर गया, क्या साधारण दर्शक भी लज्जा और सभ्यता की सीमा भूल गए? असभ्यता और अशिष्टता ही पढ़े-लिखे और आधुनिक होने की निशानी मानी जा रही हो तो आधुनिकता और प्रगतिशीलता का गलत मूल्यांकन होगा। मात्र परिधान, शृंगार और व्यवहार में आधुनिकता का अंधानुकरण हमें ऐसे दोराहे के मुहाने पर खड़ा कर देगा कि दोनों ही राहों पर निशंक होकर चल नहीं पाएँगे। हमारी सोच भोथरी हो जाएगी और हमें क्या चुनना है, इसी असमंजसता में रहेंगे।

कथित पढ़े-लिखे, शिक्षित लोगों ने कभी यह सोचा है कि हम इतने भी मजबूर नहीं कि ग्लैमर की चकाचौंध की परोसी हर चाशनीपगी गंदगी का पान करें। टी.वी. का स्विच, रिमोट हमारे हाथ में है। फिल्में देखना या न देखना हमारे बस में है। ये तो हमने आपने तय कर लिया या कर सकते हैं पर क्या मात्र इतना करना बहुत होगा। हम क्या यह नहीं चाहते कि आने वाली पीढ़ी को एक स्वस्थ सोच, यथार्थ परिवेश और आशा जगाता समाज मिले। अब यथार्थ के नाम पर फिल्मों में अश्लीलता, भौंडापन, फूहड़पन लाना उनकी मानसिकता को दर्शाता है। इसे नकारना तो पाले के इस तरफ वाले हम लोगों का काम है। हद तो तब होती है जब आठ-दस वर्षीय बालिका संगीत प्रतियोगिता में 'बीड़ी जलाय ले....' गाते हुए मटकती है। भौंडे-भद्दे गाने को बिना किसी हिचक के गाना भी उनकी काबिलियत मानी जाती है। निर्णायकगण बिना चूँ किए अपनी भाव-भंगिमाओं से तनिक भी असहमति न दर्शाते हुए बैठे रहते हैं। गायन प्रतिभा की परख के लिए क्या वय और शिष्टता के अनुसार कोई गीत नहीं मिला?

पुस्तक प्रदर्शनी में गान-नृत्य प्रतियोगिता में बालिका 'कजरारे' पर नृत्य करती है। लोग वाहवाही करते हैं। ताली बजाते हैं। यही नहीं, अगले दिन

अखबार में बालिका के नृत्य की प्रशंसा कुछ इस तरह होती है मानो उसके परिवार के लिए फख्र की बात हो।

सुश्री शुभा मुद्गल जैसी संगीत विद्वान इन मामलों से व्यथित है। उन्होंने अपने उद्गार में लिखा भी है। असहमति दर्शाकर आगे यह भी जोड़ दिया कि 'बस खामोश रहो, कुछ कहो ना' सच में हम इतने लाचार हैं क्या? अब और चुप रहना ज्वालामुखी के फट पड़ने के ठीक पहले की स्थिति है। अभी चुप रहेंगे, तो यकीन मानिए हम कभी कुछ न कह पाएँगे। यही तो वक्त है विरोध दर्ज कराकर बच्चों की मासूमियत को बचाने का। प्रतातंत्र का यह मतलब कतई नहीं है कि समाज में गंदगी फैलाने तथा वातावरण दूषित करने की छूट हो। या हर तरह की अश्लीलता और फूहड़पन को चुपचाप सहन करते रहें।

कुछ न कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि सब कुछ ठीक-ठाक है। खामोश रहने के कई अर्थ हो सकते हैं। मसलन हमारे कहने से क्या होगा? कुछ बदलने वाला तो है नहीं। सबसे अहम अर्थ या डर तो यह होता है कि लोग हमें संकुचित दिलो-दिमाग का या पिछड़ा हुआ न मानें, जबकि प्रगतिशीलता और आधुनिकता मन की सोच यानी मानसिकता से जुड़ी हुई है, न कि दिखावे और ऊलजलूल वस्त्र पहनने (या वस्त्र न पहनने) से।

आपकी सोच स्पष्ट और दिमाग जागरूक होना चाहिए, जो केवल अपने लिए न सोचकर समाज की बेहतरी के लिए सोचे। समाज की बेहतरी का यह अर्थ भी नहीं है कि आप झाड़ू हाथ में लेकर ईद के चाँद की तरह किसी गली-कूचे में नमूदार हो जाए। अथवा वर्ष में एक दिन या एक पखवाड़ा किसी चोंचले में शरीफ हो जाएं। एक जागरूक उपयोगी नागरिक की हैसियत से बच्चों को संस्कारवान, दिशावान समझदार राह दिखा सकें। एक तर्कपूर्ण सोच और स्पष्ट दृष्टि की मानसिकता पैदा कर सकें। इससे सही-गलत का सही तौर पर निर्धारण कर सकें। अपने दुर्भाग्य पर लंबे समय तक चुप रहना या बैठे रहने से दुर्भाग्य की शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि वो (दुर्भाग्य) हम पर शासन करते हुए अधिक नुकसान पहुँचाएगा। वैसे भी हमारे यहाँ ऐसे लोगों का प्रतिशत अधिक है, जिनकी आँखों का पानी अभी मरा नहीं है। इसलिए उम्मीद की लौ टिमटिमाती रहेगी।

●●●

सपनों से कटता बचपन

मनुष्य के जीवन में कई पड़ाव आते हैं, जैसे बचपन, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था। जीवन के प्रारम्भ के वर्षों में करीब पांच साल की उम्र तक जितना मनुष्य सीखता और ग्रहण करता है, उतना और किसी वय या अवस्था में नहीं। बचपन में उसका दिमाग कोरे कागज की तरह होता है। शायद इसीलिये उस पर अधिक से अधिक अनुभव गहराई से अंकित होते हैं। इस उम्र में हर नई वस्तु और बात के प्रति उसकी जिज्ञासा चरम पर होती है।

माना जाता है कि बच्चा भय, क्रोध, द्वेष आदि आवेगों से अपरिचित होता है। उम्र बढ़ने के साथ-साथ ये सारे भाव उसमें आते जाते हैं, इसीलिये बचपन को मासूम माना जाता है, यही मासूमियत बचपन को वास्तविक रूप में सुंदर, सलोना बनाती है। न कोई भार, बस अपनी मर्जी से खेलो, कूदो, मौज उड़ाओ उस पर बाकी बड़ों का लाड़-प्यार भी पाओ। इसी खेल-कूद में बहुत कुछ व्यावहारिक ज्ञान भी मिलता जाता है और इसकी जो छाप मन पर पड़ती है वह जीवनभर याद रहकर होंठों पर मुस्कराहट ला देती है।

पर कुछ अर्से से देखा जा रहा है कि बचपन के विषय में उपरोक्त बातें झूठी पड़ती जा रही हैं जिस तरह बच्चे छोटी उम्र में समझदार हो रहे हैं। (यदि कहा जाये कि वयस्क हो रहे हैं तो गलत नहीं होगा) लगता है कि बचपन जैसा कोई लुभावना पड़ाव अब इन्सान के जीवन में रह ही नहीं जायेगा। अगर ऐसा हो गया तो इन्सान के लिये वह दिन बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण होगा। इस खोते जा रहे बचपन के लिये कोई एक कारण तो दोषी नहीं है। समाज के बदलते स्वरूप, शिक्षा पद्धति में सुधार न कर पाना, निरंतर बढ़ती महंगाई तथा इनके अलावा भी कई कारण व उपकरण हैं।

पिछले दो दशक के पहले परिवार पूर्ण रूप से संयुक्त न भी हों याने कई भाई के परिवार एक छत के नीचे न रहते हों, पर बुजुर्ग माता-पिता, बेटा-बहू,

अनब्याही बहन तथा नाती-पोते रहते थे, बच्चों पर दादा-दादी का असर भी पड़ता था और अपने माता-पिता का आदर करना भी सीख जाते थे, परिवार का यह स्वरूप टूटकर हम दो-हमारे दो की तर्ज पर एकल परिवार में सिमटने लगा। असल में ये ऐसा संक्रमण काल है कि महंगाई की मार, महिलाओं में देहरी पार कर बाहर निकलने की होड़ और एकल परिवारों का बनना सब एक साथ हुआ जो पूर्व नियोजित या सही तरीके से नियोजित कुछ भी न था। बस महिलायें घर की आर्थिक स्थिति मजबूत करने घर से बाहर निकलीं कहीं मजबूरन, कहीं घर के कामों की एकरसता से ऊब कर और कहीं अपनी मानसिक क्षुधा को शांत करने के लिये। इसी समय बच्चों के लिये झूलाघर और नर्सरी स्कूल की विशाल शृंखला रातोंरात तैयार हो गई। माताओं को कुछ शंकाओं के साथ ही सही पर राहत तो मिली। अब बच्चों का समय स्कूल और झूलाघर में बंट गया, याने दोनों ही बंदिश और नियमों के अंतर्गत रहने की जगह हो गई। माँ दफ्तर से थकी-हारी आती और मशीनी ढंग से पूछती जाती—स्कूल में क्या हुआ, टेस्ट में कितने नम्बर आये? होमवर्क तो नहीं बचा करने को? झूलाघर के लिये दिया नाश्ता खाया क्या? स्कूल का लंच पूरा खाया?

नन्हीं-सी जान पर प्रश्नों की बौछार कर माँ अपने फर्ज से मुक्त हो जाती। अब तक शारीरिक रूप से और मानसिक रूप से भी इतना थक जाती कि बच्चे से यही बोलती—'मम्मी का सिर दुख रहा है, अब चुपचाप खेलो या पढ़ाई करो या फिर कार्टून फिल्म देखो।

बच्चा जिस अपनेपन, गर्माहट और सुरक्षा की चाह में घर आता है उसे नदारद पाता है। अगर बच्चा बच्चों जैसी हरकतें करता है जैसे थोड़ी बहुत जिद, भाई या बहन से लड़ाई या हल्की मारपीट, खाने-पीने में जरा-सा नखरा या ना-नुकुर तो उसे बड़ों की तरह सीख मिलती है। एक तरफ तो बेचारे या बेचारी का बचपन मारा जाता है, दूसरी तरफ वे अप्राकृतिक व्यवहार करने लगते हैं। जो बच्चे अधिक संवेदनशील होते हैं वे एक दम मौन रहने लगते हैं। माँ सोचती है कि बच्चा सलीके वाला हो गया है। पर यह ओढ़ा हुआ सलीका परदे की तरह हटता है और बच्चे के मन का गुबार इस तरह फूटता है और बहता है जैसे ज्वालामुखी का लावा। दूसरी तरफ कुछ बच्चे कुछ अधिक ही मुँहफट हो जाते हैं और बड़ों की तरह व्यवहार करते हैं इनकी बातें भी इसी तरह होती है। इनमें से अधिकतर बच्चे समय से पहले परिपक्व हो जाते हैं। दोनों ही हालात में बच्चों से प्राकृतिक, मोहक बचपन तो छिनता ही है। वे सपनों से भी कटते जाते हैं।

दूरसंचार माध्यम, फिल्मों और ग्लैमर पत्रिकाओं ने इन बिगड़े हालात में आग में घी डालने का काम किया है। जिस पर कुछ पढ़ी-लिखी महिलाओं को अपने बच्चे की हरकत अप्राकृतिक या असाधारण लगती और वो इसका कारण ढूँढ़ते। मनोचिकित्सक भला आदमी या भली महिला हुई तो माँ को सही-सही समझायेगा कि बच्चों के बजाय इनके माता-पिता को मनोचिकित्सा की आवश्यकता है। वरना तो आजकल ये भी अच्छा व्यवसाय हो गया है और अच्छा भला बच्चा केवल अपना बचपन ही नहीं बहुत कुछ खो देता है।

बच्चे देश के भविष्य हैं, इसलिए सभी क्षेत्रों में इनसे सम्बन्धित मसलों पर राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा होती है। नये-नये उपाय भी सोचे जाते हैं पर सही और पूर्ण रूप से अमल हो ही नहीं पाता। जैसे छोटे बच्चों को गृहकार्य (होमवर्क) न देने का तय होता है, बस्ते का बोझ प्रतिदिन लादना न पड़े इसके लिए भी कहा-सुना जाता है। जब खबरें पढ़ते-सुनते हैं तो मन में आशा की एक किरण चमकती-सी दिखती है। पर वो किरण बरसाती जुगनू की तरह साबित होती है। बच्चों के 'वेकेशन्स' होते हैं। उसमें से भी माँ को बच्चों से होमवर्क कराने के लिए कुछ दिन लेना पड़ता है। दस दिन की छुट्टी में चार-पांच दिन लड़-झगड़कर किसी तरह होम-वर्क वाला पर्व पूरा होता है। यहीं से बच्चों का उत्कोच (घूस) से परिचय होता है। माँ थक हाकरकर उसे चॉकलेट या किसी ऐसी वस्तु का लालच दिलाकर काम कराती है।

बचपन को बचाने का एक उपाय यही सूझता है कि समाज, दूरसंचार माध्यम, विद्वजन, शिक्षा संस्थान तथा स्वयंसेवी संस्थाओं को एक साथ अपनी नीति में परिवर्तन लाना होगा और एक साथ उन्हें लागू करना होगा। ये बात असंभव तो नहीं पर कठिन अवश्य है। एक समय था जब बच्चों को बाहरी वातावरण से बचाकर रखना मुमकिन था और माँ-बाप के लिये उन्हें सुसंस्कृत और सुशिक्षित बनाना अपेक्षाकृत सरल था। अभिभावक के लिए बच्चे को सही तरीके से राह पर ले जाना अत्यन्त कठिन होता जा रहा है। अच्छे-अच्छे सुसंस्कृत परिवार के बच्चे जहाँ माता-पिता का व्यवहार संतुलित और समझदार होता है, बाहर से अवांछनीय बातें सीख ही लेते हैं। पहले के लोग प्राकृतिक रूप से पके फलों को खाते थे, जो लाभकारी भी होते थे और स्वादिष्ट भी। अब तो हर तरह का फल पाल में पका होता है। ये ना तो पूरी तरह फायदेमंद होता है ना ही स्वादिष्ट। वही बात बच्चों के साथ हो रही है। घर, समाज, पास-पड़ोस, स्कूल याने बच्चे

का जहाँ-जहाँ संपर्क होता है सबका असर पड़ता है, इस कारण वो समय से पहले परिपक्व हो रहा है। लगता है बचपन तो उसका बस पलने (झूले) तक सीमित रह गया है।

असल में पहले जिन आवेगों की मसलन, भय, क्रोध ईर्ष्या, घृणा भ्रष्ट आचरण की हवा भी नहीं लगती थी, अब जरा-सी उम्र में देखने-सुनने और सीखने भी लगे। फिर बचपन रहे तो कैसे और असहाय अभिभावक करें तो क्या करें?

●●●

कोमल मन और शिक्षिका का रोल

वर्तमान में महिलाएं लगभग हर क्षेत्र में कार्यरत हैं, पर एक समय था जब महिलाएं घर के बाहर कार्यक्षेत्र में उत्तरीं तो शिक्षिका का कार्य ही उनके लिए उचित माना गया। शिक्षण कार्य सम्मानजनक और महिला के स्वभाव के अनुकूल माना जाता था। प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों में अधिकतर महिला शिक्षिकाएं ही कार्यरत होती थीं, जो कि काफी कुछ अब भी हैं। हालांकि अब तो महाविद्यालय और यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर और वैज्ञानिक के तौर पर भी महिलाएं पदस्थ हैं।

शिक्षण के बाद चिकित्सा ऐसा क्षेत्र है जहाँ महिलाओं को जाने से निरुत्साहित नहीं किया गया क्योंकि लेडी डॉक्टर महिलाओं की चिकित्सा में वरदान की तरह हैं। धीरे-धीरे अन्य क्षेत्रों ने नारी को कुछ यूं लुभाया कि वह शिक्षण कार्य के बजाय उधर मुड़ती गई। वर्तमान में हालात ये हैं कि स्वेच्छा से शिक्षण कार्य करने वाली महिलाएं कम हैं। दूसरे क्षेत्रों में प्रवेश न कर पाने पर शिक्षण क्षेत्र में आने वाली महिलाएं अधिक हैं।

स्कूली शिक्षा में महिलाएं पुरुषों की अपेक्षा बेहतर साबित हो सकती है। महिलाएं स्वभाव से धैर्यवान, संवेदनशील होने के साथ एक मनोवैज्ञानिक का दिमाग भी रखती है। खासकर बाल-मनोविज्ञान को पुरुषों की अपेक्षा अधिक अच्छे से समझती हैं। वैसे भी बच्चे के लिए घर प्रथम पाठशाला होता है। और माँ प्रथम गुरु। बच्चा माँ से और माँ के साथ जितना सीखता है उतना शायद किसी और के साथ नहीं। इस संदर्भ में माँ का शिक्षित होना और सही समझ रखना आवश्यक है।

बाल मन की गहराइयों को समझने के लिए संवेदना और समझदारी में तालमेल की जरूरत होती है। हालांकि वर्तमान में महिलाएं धीरज खोती जा रही हैं, फिर भी पुरुषों की अपेक्षा वे बच्चों के साथ अधिक निकटता कायम कर सकती है। समाज में खोते जा रहे संस्कार और अनैतिकता ने एक कुत्सित वातावरण पैदा किया है। इसका एक प्रमुख कारण पिछले दो-ढाई दशकों में महिलाओं का परिवार

और बच्चों से विमुख होना भी है। अगर प्राथमिक बल्कि माध्यमिक स्तर तक केवल महिला शिक्षिकाएं ही स्कूल में पढ़ाएं तो देश की संस्कृति की रक्षा करने व नैतिक मूल्य में गिरावट को रोक सकते हैं। महिला शिक्षिकाएं किताबी ज्ञान या कोर्स की पढ़ाई करवाने के साथ ही एक सुसंस्कृत धरातल देने का कार्य भी कर सकती हैं। बच्चे ऐसे धरातल के आदि हो जाएंगे और गुणवान और चरित्रवान नागरिक बनेंगे। जब धरातल और अवलंब (शिक्षिका) दोनों सुदृढ़ हों तो ऐसे बच्चे की किशोरावस्था व जवानी दोनों अर्थपूर्ण हो जाएगी। बच्चों को अच्छी सोच और सीख का उपहार एक माँ की तरह महिला शिक्षक उचित ढंग से दे सकती है।

●●●

गृहिणियों का आत्म-सम्मान

ऐसी स्त्रियाँ, जो पर्याप्त शिक्षित होते हुए भी कुढ़ती रहती हैं कि वे केवल गृहिणी हैं, अपने आपको कमतर समझने की भूल न करें। यहाँ तक कि इन महिलाओं से जब पूछा जाता है कि वे क्या करती हैं, तो आसानी से कह देती हैं—'कुछ नहीं, कुछ भी नहीं' या 'बस, हाउस वाइफ' हैं।

'हाउस वाइफ' या गृहिणी पूरी ईमानदारी से काम करें, तो उसे 'बस', कहकर या 'कुछ नहीं करते' कहकर एक छोटे से दायरे में बंद करना गृहिणी शब्द के साथ इंसाफ नहीं होगा, फिर वर्तमान में गृहिणी का रूप भी तो कितना बदल गया है, वो घर की लक्ष्मी और अन्नपूर्णा के अलावा दुर्गा-सरस्वती भी है। पहले स्त्रियों को गृह संचालन करना पड़ता था, पर अब तो गृह संचालन के लिए नये-नये तरीके भी सोचने पड़ते हैं। गृह संचालन के अलावा घर-बाहर के सैकड़ों कार्यों को अंजाम देने के अलावा बच्चों का होमवर्क भी कराना पड़ता है, बच्चों के अन्य क्रियाकलापों में भी माँ के मार्गदर्शन और मदद की जरूरत पड़ती है, महिलाओं के लिए ये तभी सम्भव हो पाया, जब वो शिक्षित हुई।

पढ़ी-लिखी गृहिणियों को लगता है कि वे स्नातक या स्नातकोत्तर होकर भी नौकरी नहीं कर रही हैं, तो उसके शिक्षित होने का क्या मतलब? हमारे यहाँ शिक्षा प्राप्त करने का सीधा-सादा मतलब नौकरी से जुड़ा हुआ है सो महिलाओं का ऐसा सोचना एकदम गलत भी नहीं है। कुछ औरतें तो अपनी दशा से इतनी चिढ़ी और खीझी हुई होती हैं कि अक्सर ही उन्हें कहते सुना जा सकता है—'क्या फायदा बी.ए., एम.ए. करके, थापना तो वो ही रोटी है' शब्दों की कड़वाहट और बोलने के उदासीन ढंग से ऐसा लगता है मानो कंडे थापने का कह रही हों।

जीवनदायिनी रोटी के लिए उनके ये उद्‌गार किसी अच्छी स्थिति का भान नहीं कराते। जिस भोजन के लिए इन्सान खून-पसीना एक करता है, उसके उल्लेख में इतनी उपेक्षा एक अस्वस्थ स्थिति की ओर एक अस्वस्थ सोच की ओर इंगित करता है।

पर इस सोच के पीछे जो कारण थे और कुछ हद तक अभी भी हैं, उसमें सबसे प्रमुख तो यही है कि गृहिणी या 'हाउस वाइफ' की महत्ता को नकारना किसी भी लड़की को विवाह के बाद गृहिणी तो बनाना ही है, चाहे वो साथ में नौकरी करें या न करें। आज तक यही सोचा जाता रहा है कि जितनी आसानी से ये पद (गृहिणी की) झोली में आ गिरता है, उतना ही आसान इसको निभाना भी होता है, जबकि दूसरी नौकरियों की तरह इसको निभाना भी उतना ही या उससे अधिक ही दुश्कर होता है। बाकी नौकरियों में शारीरिक या मानसिक या दोनों ही तरह के श्रम को मापने का कोई पैमाना तो होता है, पर गृहिणी के श्रम को केवल दूसरी गृहिणी ही समझ सकती है। यह भी उसकी खीझ का एक कारण है कि कोई उसके परिश्रम का मूल्य नहीं जानता या नहीं समझ पाता।

किसी भी इन्सान या कार्य का महत्त्व तभी होता है, जब वो इन्सान अपनी महत्ता समझे या कार्य की। अगर गृहिणी कार्यों को संपन्न करने में शिक्षित, वैज्ञानिक सोच का सहारा लेती है, तो निश्चित ही कार्य भी श्रेष्ठ रूप से सम्पन्न होता है। इस तथ्य को पढ़ी-लिखी शिक्षित महिलाएँ समझ लें तो उनके मन में आत्म-सम्मान की भावना अवश्य जागेगी। गृहकार्य को बोझ समझने की भूल नहीं होगी। जब महिलाएँ खुद अपने कार्यों का सही मूल्यांकन कर पायेंगी, तभी न दूसरे समझ पायेंगे। गृहिणियों का आत्म-सम्मान बढ़े, वो अपनी नजरों में तो कम से कम ऊपर जाये, इसके लिए उसमें आत्म-विश्वास होगा, तभी अपने किये जा रहे काम का सही मूल्यांकन वो कर पायेगी। एक बार वो अपनी नजरों में ऊपर उठ जाती है, तो दूसरे भी उसे आदर और सम्मान की दृष्टि से देखेंगे और उसके श्रम का सही-सही मूल्यांकन भी कर सकेंगे।

गृहिणियों का आत्म-विश्वास पहले की अपेक्षा अधिक तो हुआ है। ये एक शुभ संकेत है कि वो अपने कार्यों के मूल्यांकन के प्रति जागरूक तो हुई है। पिछले दिनों दिल्ली में हुई एक घटना ने गृहिणियों की जागरूकता का एक सशक्त रूप पेश किया है। पालकों की एक फोरम (परेन्ट्स फोरम फार मीनिंगफुल एज्युकेशन) है, जो सी.बी.एस.ई. (सेंट्रल बोर्ड ऑफ सेकंडरी एज्युकेशन) की परीक्षाओं की प्रक्रिया में जो त्रुटियाँ हैं, उनके लिए न्यायिक लड़ाई लड़ रही हैं। सी.बी.एस.ई. के एक वकील ने इस फोरम की एक साधारण पाँच-छः गृहिणियों के जमावड़े से तुलना की। इस फोरम ने कड़ी आपत्ति दर्ज करायी और दिल्ली उच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की है। याचिका में माँग की गयी है कि वकील को अपने वक्तव्य के लिये न केवल बोर्ड से माफी माँगनी होगी, वरन् न्यायालय व भारत की महिलाओं से भी माफी माँगनी होगी।

पश्चिमी देशों में तो 'हाउस वाइफ' शब्द की जगह 'हाउस मैनेजर' शब्द इस्तेमाल करने पर जोर दिया जा रहा है। कहा जा रहा है कि महिलाएँ सबसे अच्छी मैनेजर साबित हो रही हैं, चाहे वो ऑफिस हो, घर हो या 'टाइम मैनेजमेंट' वाली बात हो। ये सब जान-सुनकर महिलाओं का उत्साह बढ़ेगा। आखिर उनकी लगन, मेहनत और समर्पित भाव को सही आँका जाने लगा है।

अब तो गृहिणियों को कुढ़ना या खीझना नहीं चाहिये, न ही अपने आपको हीनभावना से ग्रस्त होने देना है। सब लोगों की तरह उनका भी आत्म-सम्मान है। इसे वो महसूस करें और बचाये रखें। गृहिणी या हाउस वाइफ होना शर्म की नहीं, गर्व की बात है।

●●●

अपमान नारी का या नारित्व का?

नारी का अपमान कोई नई बात नहीं है। हर युग में नारी की पूजा का दावा एक तरफ अपमान का सिलसिला दूसरी तरफ होता चला आ रहा है। महाभारतकालीन युग में एक नारी कुंती द्वारा बिना जाने-बूझे, बिना सोचे-समझे दूसरी नारी द्रौपदी को पाँचों भाइयों में विभक्त किया गया। दुर्योधन ने दुःशासन द्वारा अपनी भाभी का जबरन चीरहरण करवाया। महाभारत पढ़ते हुए इस दृश्य और संदर्भ के आते ही दिल लज्जा से संकुचित हो जाता है और मन पीड़ित। आज के परिदृश्य में जब महिला को लगभग वस्त्रहीन देख रहे हैं तो एक डंक-सा चुभता है। बस एक ही बात की झूठी तसल्ली हो सकती है कि वर्तमान में चीरहरण तो लगभग असंभव है, क्योंकि शरीर पर चीर के नाम पर चिंदी ही तो लिपटी हुई है। फैशन और आधुनिकता के नाम पर शरीर को अधिक से अधिक दर्शनीय बनाना यूं लगता है मानो वस्त्रों की तौहीन करते हुए आदिम युग की ओर बढ़ रहे हों। जिस युग से निकलकर सभ्यता के आंचल में पनाह ली फिर लौटकर उसी युग में तो नहीं जा रहे हैं? आधुनिकता क्या शरीर के वस्त्रों को क्षीण करती हुई अश्लीलता की ओर कदम उठाने को बाध्य करती है? आधुनिकता तो शरीर से अधिक मन से संबंध रखती है। काल, वातावरण परिस्थिति, मौसम व अन्य कारणों के अनुसार अपने चिंतन को जो अपडेट या संशोधन करे, उसे ही हम आधुनिक कह सकते हैं, न कि शरीर को खुला छोड़कर देखने वालों पर तोहमत लगाएं कि उसकी नजरें ही अश्लील हैं और वो उसी तरह देखता है। अब किसी दुर्योधन या दुःशासन का प्रत्यक्ष रूप से षड्यंत्र नहीं है। पर बाजारवाद के फैलाए और बिछाए जाल अवश्य हैं, जिसमें फंसकर इस काल की सबसे महत्वपूर्ण वस्तु पैसों की चमक सबके सिर चढ़कर बोल रही है। इस चमक को हासिल करने के लिए ये महिलाएं किसी भी हद तक जाने को मानो तैयार बैठी हैं। एक समय हुआ करता था जब छोटी-छोटी बच्चियों की फ्राकें नीची हुआ करती थीं कि जांघियाँ न दिखे, इस बात का ख्याल रखा जाता था। गर्मियों में मलमल व आरगंडी की ड्रेस के नीचे तथा

घर में पहनाने को बच्चियों के लिए बाजार में शमीज नहीं मिलती थी। अब तो ड्रेसें ही शमीज से छोटी हो रही हैं। इस संदर्भ में एक पुरानी घटना याद आती है। एक भिखारिन के फटे कपड़ों से उसके गदराए अंग झांक रहे थे। बेचारी साड़ी के टुकड़े को कभी इधर से खींच, कभी उधर से खींचकर शरीर को ढंकने का असफल प्रयत्न कर रही थी। कुछ मनचले उसकी परेशानी का आनंद उठा रहे थे। पर जब नैसर्गिक परेशानी और गरीबी की मार हो तो संवेदनशील हृदय का व्यक्ति कुछ करने की सोचता है। इसी तरह से एक पुरुष ने अपनी बीवी के द्वारा उस भिखारिन को वस्त्र प्रदान करवाए। बदन पर चिंदियाँ लपेटे ये फैशनेबल महिलाएं भिखारिन इसलिए नहीं है कि इनकी ड्रेसों पर नामी डिजाइनरों का लेबल लगा है, पर दिलोदिमाग से ये ही महिलाएं तो भिखारिन हैं वर्तमान में जो महिलाएं स्वयं निर्वस्त्र होने को तैयार खड़ी हैं, वही तो नारित्व का अपमान स्वयं कर रही हैं। क्या आपको ऐसा नहीं लगता?

●●●

प्रार्थनारत स्त्री के पक्ष में

धर्म किसी भी व्यक्ति की पूरी जिंदगी पर प्रभाव डालता है। व्यक्ति ही नहीं सम्पूर्ण राष्ट्र और विश्व के परिप्रेक्ष्य में देखें तो धर्म रीढ़ की हड्डी के समान है, सच्चा धर्म सही रास्ते पर चलने को उद्धृत करता ही है। साथ ही अन्याय के खिलाफ लड़ना भी सिखाता है, व्यक्ति को साहसी और बलवान बनाता है। ये कथन विश्व के हर धर्म के लिए पूरी तरह सत्य है। भारत को कभी धर्म भीरू राष्ट्र इसलिए कहा जाता था कि वो धर्म का रास्ता अपनाये हुए था, पर धीरे-धीरे धर्म भीरू का सही अर्थ तो खो ही गया और कायरता और भीरुता ने अंध-विश्वास को धर्म का सहारा बना दिया।

यूँ तो मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक हर पड़ाव पर धर्म की छाप होती है। राजा को किस तरह अपने धर्म का पालन करना चाहिये, ब्रह्मचारी, शिष्य, पारिवारिक व्यक्ति को, बुजुर्गों को यानी हर स्थिति और पड़ाव पर स्त्री के लिए तो यही आदेश होता है कि वो पुरुष के अधीन रहे और उन्हें खुश रखें। घर परिवार में जो भी पूजा-अनुष्ठान हो, उसमें सारी तैयारी और श्रम स्त्री के जिम्मे होता है। ठीक वक्त पर आकर पुरुष अपनी उपस्थिति दर्ज करा दे, बस, तो पूजनीय माना जायेगा।

बाकी क्षेत्रों की तरह धर्म के कायदे-कानून भी पुरुष द्वारा बनाये हुए हैं। महिलाओं को क्या-क्या कैसे और किस हद तक पालन करना चाहिये? कौन-सी पूजा वो कर सकती है। कौन-से अनुष्ठान करने की उसे अनुमति नहीं है। कहाँ-कहाँ प्रवेश कर सकती है। कहाँ उसका प्रवेश निषिद्ध है? ये सब बातें पुरुष रूपी धर्म के ठेकेदार ही तय करते हैं। पति की मंगल कामना, दीर्घायु-जीवन के लिए पत्नी के रूप में व्रत-उपवास, पूजा-पाठ, तो बच्चों के जीवन को सुखी और सफल बनाने के लिए माँ के रूप में ईश्वर से प्रार्थना, अनुष्ठान आदि करना। मानो परिवार के सभी लोगों के जीवन में रंग भरने का ठेका नारी को ही मिला हो। पर वो अपने जीवन को इन ढकोसलों की नीरसता से निजात नहीं दिला सकती।

विधवा नारी अपने ही बच्चों के मंगल कार्यों में हिस्सा नहीं ले सकती, क्योंकि बच्चों का अमंगल हो जायेगा। विधुर के लिए ऐसा कोई बंधन नहीं, क्योंकि वो पुरुष है। कहने को तो धर्म सहिष्णुता सिखाता है, पर सहिष्णुता और धीरज जैसे गुण पुरुषों ने केवल नारी की खातिर तज दिये हों। मानो नारी के खाते में इन गुणों का अभाव न हो जाये।

ऐसी कौन स्त्री होगी जो घर-परिवार में सुख-शांति न चाहती हो, घर-परिवार के सदस्यों के भले के लिए सदैव मन ही मन प्रार्थना न करती हो। पर क्या ये प्रार्थना आडंबर के साथ, शोर-शराबे के साथ और प्रतिदिन एक घोषणा की तरह हों तभी सही मानी जायेगी। अब जब कि नारी सही परिप्रेक्ष्य में और वैज्ञानिक सोच-समझ की शक्ति रखती है, वो पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर बराबरी से घर के बाहर का काम करती है। क्या उसे अधिकार नहीं होना चाहिये कि वो खुद निर्धारण कर सके कि धर्म को किस रूप में अपनायेगी? धर्म का सच्चा और सही रूप तो केवल यही है कि जो अधर्म न हो। धर्म की रूपरेखा यही तो है कि इंसान की भलाई, परिवार की, समाज की, राष्ट्र का हित। यह सोचने-समझने की सही-सही शक्ति पुरुष की अपेक्षा नारी में अधिक होती है, क्योंकि वो संवेदनशीलता और इंसानियत के अधिक करीब होती है।

कुछ अर्से से नारी ने घर के साथ बाहर की जिम्मेदारी अपने मत्थे ली और दो पाटों के बीच पिस रही है। पुरुष पहले से अधिक गैर जिम्मेदार हो गया।

अपने दायित्वों का सही तरीके से निर्वाह करना ही तो धर्म है। इस सदी की नारी को अपने दायित्वों का सही-सही निर्धारण कर उसके अनुरूप कार्य करना ही क्या सही धर्म नहीं होगा?

●●●

बढ़ती उम्र क्यों बढ़ाए चिंता?

शीशे में अपना चेहरा देखा। एक-दो, तीन चार अरे! सफेद बाल दिखने लगे? एकाएक मन धक से हो जाता है। 40 वर्ष की महिलाएं इस घबराहट से ऐसी भर जाती हैं कि वे कई उपाय अपनाने लगती हैं। बालों की डाई तो सामान्य बात है, पर चेहरे पर भी कई प्रयोग आजमाए जाते हैं। कभी वे अच्छे लगते हैं तो कभी चेहरे को और खराब कर देते हैं।

यह घबराहट कैसी?

बढ़ती उम्र के साथ आखिर यह घबराहट कैसी? उम्र के साथ-साथ प्रौढ़ावस्था व वृद्धावस्था भी तय है। इस उम्र का सामना करने की मानसिक तैयारी होना चाहिए। जितना शरीर के प्रति सचेत हैं, उतना मन की सबलता व दृढ़ता बढाएं तो चेहरे पर सहज ही एक चमक आ जाएगी। बाहरी लीपा-पोती के स्थान पर घबराहट व चिंता की लकीरें मिटा दें तो चेहरे में आकर्षण आ जाएगा।

युवावस्था से चिंता शुरू

यह तो हुई अधिकतर उन महिलाओं की प्रवृत्ति जो चालीस पार कर रही हों, पर अब तो युवतियां भी अपने अंग-प्रत्यंगों में प्लास्टिक सर्जरी द्वारा बदलाव ला रही है। यह सब अब तक धन का खेल माना जा रहा था, पर जब मध्यमवर्गीय युवतियां भी इस ओर प्रवृत्त होने लगी हैं यानी जीने का अर्थ मात्र एक खूबसूरत शरीर व चेहरे तक रह गया है।

शारीरिक विकृति सही करने के लिए प्लास्टिक सर्जरी या कॉस्मेटिक डेंटस्ट्री करवाना एक बात है। स्वस्थ शरीर के साथ इस तरह की छेड़छाड़ मानसिक विकार बताता है कि आप शारीरिक या बाहरी खूबसूरती के अलावा कुछ सोच नहीं पाती। अनुभव की धूप के सफेद बाल तनिक गौर करें, क्या हम अपने घर के बुजुर्गों को वृद्धावस्था के कारण असुंदर मानेंगे? उनके सन जैसे सफेद बाल, शरीर पर

पड़ी झुर्रियां असुंदरता की निशानी नहीं हैं वरन् समय की मार व अनुभव की तपिश है।

हो सकता है उनमें कुछ ऐसे भी होंगे जिन्होंने विद्यालय या विश्वविद्यालय की डिग्रियां बटोरी न हों, पर दुनिया की कक्षा में अनुभव के कई पदक अर्जित किए होंगे जो व्यावहारिक जीवन में सीढ़ियां चढ़ने में आसानी ला देते हैं।

सोच बदलें तो आए चमक

माना कि समय, सामर्थ्य और मौकों के अनुसार सजना-संवरना है। सुन्दरता अपना असर दूर तक तभी छोड़ पाती है जब वह गहरी और पैनी हो। यह गहराई आती है मानसिक सुन्दरता और सोच से। यही सुंदरता बाहरी खूबसूरती की बनिस्वत स्थायी होती है। यही चेहरे पर प्रकाशित होती है। आपके व्यवहार में भी स्वाभाविक या प्राकृतिक रूप से परिलक्षित होती है। सुंदरता अपना असर दूर तक तभी छोड़ पाती है जब वह गहरी और पैनी हो। यह गहराई आती है मानसिक सुंदरता और सोच से। यही सुंदरता बाहरी खूबसूरती की बनिस्वत स्थायी होती हैं यही चेहरे पर प्रकाशित होती हैं। आपके व्यवहार में भी स्वाभाविक रूप से प्राप्त वस्तु या गुण नकली या बनावटी तरीकों से प्राप्त गुणों से बेहतर होगी। साथ ही मन को प्रसन्नता और दिल को तसल्ली देगी।

●●●

आसमान छूना है, पर किस कीमत पर

जब कल्पनाएँ ऊँची उड़ान भरती है, विचारों को पंख मिल जाते हैं तो कोई भी फलक छोटा लगने लगता है। ऐसे में जिजीविषा और साहस अपरिमित रूप से बढ़ जाता है। व्यक्ति विशेष को लगने लगता है कि वो कुछ भी कर गुजरने की ताकत रखता है। जो तब तक असंभव था वो भी संभव कर दिखा सकता है। उस कार्य के प्रति जूनून की हद तक प्रतिबद्धता उसे वो हौसला प्रदान करती है जिससे वो कार्य को प्रतिपादित करता या करती है। सामान्यतः यह बात स्त्री-पुरुष दोनों के लिये लगभग एक जैसा सही हो सकता है। होता है।

पिछली पीढ़ी की नारी ने थोड़ा-सा स्पेस, कुछ निजता, बराबरी के मौके आदि की चाह की थी। परिवार की बेहतरी के लिये पुरुष के साथ आर्थिक मदद की इच्छा व कोशिश की थी व सफल भी हुई थी। सदियों से स्त्री एक गृहिणी, माँ, बेटी, बहू आदि अनेकों रूपों में परिवार रूपी मशीन को सुचारू रूप से चलने देने के लिए तेल व चिकनाई (ग्रीस) प्रदान करती आ ही रही है। इसमें भले ही शरीर पस्त हो जाये पर मन को तसल्ली नहीं मिलती। जब यह बेचैनी बढ़ती गई तभी महिलाओं ने लगभग हर क्षेत्र में कदम रखना प्रारम्भ किया। महिलाओं के लिए जो क्षेत्र वर्जित माने जाते थे वहाँ भी उनके शुभ चरण पड़ने लगे। हर क्षेत्र में असंभव को संभव कर दिखाने की उसकी प्यास बढ़ती गई।

आज की नारी का हौसला इतना बढ़ा हुआ है कि वो हर क्षेत्र, हर जगह अपनी पैठ बनाना चाह रही है। इसमें कोई अनहोनी या गलत बात नज़र भी नहीं आती। मानव मन स्वतंत्र है। कुछ सोचने और करने के लिये। स्त्री-पुरुष का कोई भेदभाव या खांचा नहीं बंटा हुआ है। बस, तनिक भय यह रहता है कि महिलायें आसमान छूने की जद्दोजहद में अपने कुदरती तोहफों से मरहूम न हो जायें।

पुरुष के बराबरी से, समकक्ष कार्य करना, पुरुष से समानता साबित करना अलग बात है। इसके पीछे स्वस्थ प्रतिस्पर्धा की भावना हो या उस क्षेत्र विशेष में अत्यधिक व स्वाभाविक रुचि हो, तब तो कोई बात नहीं। वर्तमान का परिदृश्य

जो कुछ सामने ला रहा है वो मन में भय और शंका, कुशंका का जाल-सा फैला रहा है। कई बार लगता है कि नारी पुरुष से मात्र बदला लेने या खुंदक निकालने को ये सब कर रही है। पुरुष जो कुछ करता है, बुरे से बुरा कार्य ही क्यों न हो, मैं कर सकती हूँ या मैं भी क्यों ना करूँ, यही भावना रहती है।

क्या आज तक किसी ने सकल या समस्त आसमान को पाया है? तो फिर उसे हड़पने की चेष्टा क्यों की जा रही है। नासमझी में अहं का टकराव, स्वयं को श्रेष्ठ साबित करना तथा आत्म-केन्द्रित खुशी व सम्मान पाने के लिये महिलायें यही कुछ तो कर रही हैं। अधिक जिद पर आ जायें तो मैं करके ही रहूँगी फिर चाहे इसमें मुझे अपना कुछ भी क्यों न खोना पड़े।

इस खोने-पाने के बीच महिलाओं के कुदरती गुणों का खात्मा हो रहा है। मसलन धैर्य, दया, ममता, करुणा की जगह उनका रवैया क्रोध, क्रूरता व हिंसा का होता जा रहा है। जहाँ इन दुर्गुणों की आवश्यकता है वहाँ अपनाने से ये सद्‌गुण और वीरता की श्रेणी में आ सकते हैं। पर अपने ही लोगों, अपने ही परिवार में, माता-पिता, बच्चों या भाई-बहनों के साथ इस तरह का व्यवहार क्या दर्शाता है? यह बदला हुआ व्यवहार कम पढ़ी-लिखी और शिक्षित दोनों ही तरह की महिलाओं में समान रूप से व्याप्त हो रहा है।

एक समय था जब परिवार नामक संस्था को सींचने के लिये महिलाओं ने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। बाद में उसे लगने लगा कि परिवार में वो पिस रही है, उसके साथ अन्याय हो रहा है। अब, जब परिवार में परिस्थितियां उसके अनुकूल हो रही हैं तब उसका ये व्यवहार समझ से परे है। मुद्दे की एक महत्वपूर्ण बात जो उसे भूलनी नहीं चाहिये वो है—'भारतीय संस्कृति में अभी भी परिवार और समाज कभी भी इतना गौण नहीं हो सकता कि आप उसे दरकिनार कर अपनी आकांक्षा की अति के पीछे पागल हो जायें।'

●●●

कितना उचित है, आत्मघाती जीवन शैली!

अतिआधुनिकता आखिर है क्या? प्रचलित रीति-रिवाज, शैली, विचार, सोच सभी को सिरे से नकारना या हर मौजूद बात को पुरातन, सड़ी गली बात साबित करने में जुट जाना, क्या यही आधुनिकता है। मात्र लिबास, पहनावा या पोशाक या रहने का तरीका और सलीका ही किसी को अति आधुनिक का खिताब दिलाता है। भले ही दिमागी तौर पर इंसान पूरी तरह दिवालिया हो, उसकी सोच में वही पुरातन पंथी और सड़ी गली परम्पराओं का छौंक हो। बिल्कुल हमारे देश के पंजाबी बैक ग्राउंड के फिल्मों के करवा-चौथ उत्सव या विदेशों के काठ बाहुल्य मकान में दिया और आरती के साथ गान। संस्कार और संस्कृति की ऐसी विरासत हम अगली पीढ़ी को सौंप रहे हैं जिसमें नई सोच या कल्पना के बजाय वही पुरानी कठमुल्लापन निहित हो!

नई पीढ़ी को अपनी सोच, निजी सोच विकसित करने के लिये न माहौल दे रहे हैं न मौका। जीवन के हर क्षेत्र में कथित पाश्चात्य सभ्यता की मात्र भौंडी नकल ने ही आज की पीढ़ी को मानसिक और शारीरिक खोखलेपन के रास्ते पर डाल दिया।

लड़कियों को लड़कों की तरह समान अवसर दिये जा रहे हैं, फिर वो शिक्षा के विविध क्षेत्र हो या नौकरी के। लड़कियों की डिग्रियां तो अब लड़कों पर भारी पड़ रही हैं। पर व्यावहारिक कुशलता और व्यवहार में लड़कियां पिछड़ रही हैं। एक तरह से आत्मघाती तरीके से जीना ही उनकी जीवन शैली होती जा रही है। इंसान को कायर या दब्बू नहीं होना चाहिये, ये कथन सभी पर बिना लिंग भेदभाव के लागू होती है। पर साहस की अति या दुस्साहस को जीने का अंग या तरीका बनाना भी तो बेवकूफी है। साथ ही हर अनुभव को स्वयं महसूस करके कुछ सीखने के बजाय दूसरे के अनुभव से सीख लेते हैं तो क्या वो समझदारी नहीं होगी। आये दिन समाज में जो कुछ घट रहा है उससे सीख लेकर लड़कियां या महिलायें अपने आसपास सुरक्षा घेरा बना सकती हैं।

लड़कियाँ उच्च शिक्षित ही नहीं उच्च पदों पर भी सुशोभित हैं। उनकी मानसिक सोच उस हिसाब से इतनी तो हो कि वो अपना भला-बुरा सोच सके। प्रतिदिन जिस तरह के हादसों को पढ़ते-सुनते देखते हैं उससे कहीं भी ये नहीं लगता कि महिला अपना भला कर रही है या भले की सोच रही है। अभी भी पुरुषों के हाथों की कठपुतली बन रही है। ये भी कहा जा सकता है कि वो अपनी क्षणिक सोच और दुस्साहस दिखाने के चक्कर में स्वयं ही ठगी जा रही है। पहले जब माँ या घर के बुजुर्ग एक जुमले का इस्तेमाल किया करते थे कि 'आग और फूस को साथ-साथ रखना अक्लमंदी नहीं हैं।' ये मात्र ऐसी चेतावनी नहीं है कि बस यूं ही दुहराई जाती रहे। एक ऐसा गूढ़ तथ्य है जो रिश्तों में सीमा या हद तय कर सकती है। पर स्वयं को बाकी लोग पिछड़ी मानसिकता का न मान लें, इसी एक सोच के चलते अवांछित प्रदेशों में प्रवेश करना ही आज की आधुनिकताओं की प्राथमिकता हो गई है। जीवन का 'थ्रिल' और 'मजा' लेना इनके अलावा कोई और नहीं जानता, इस विचार को जितनी दूर ले जाती हैं उतना ही स्वयं को मुसीबत में घेर लेती है। मुसीबतों के साथ जीना ही 'थ्रिल' है शायद। वर्तमान पीढ़ी की एक बड़ी त्रासदी है 'लिव इन रिलेशनशिप', जिसे इतनी आसानी से कहा जाता है कि 'सूट' नहीं हुआ तो अलग हो जायेंगे। मानो रिश्ते नहीं कपड़े हों, जब चाहे उतार दो। हमारे देश के समाज की सोच इतनी परिपक्व नहीं है कि इस रिश्ते को इतना सरल सहज बना ले। ऐसे रिश्ते में लगभग सभी घटनाओं में सजा भुगतनी पड़ती है, लड़की या महिला को। रिश्ते बनने के पहले वही पुरुष जो सब्जबाग दिखाते हैं उसे 'समझदार' महिला भी क्यों नहीं समझ पाती और क्यूं कर चंगुल में फंस जाती हैं ये बहुत बड़ा सवाल है।

आज की इस सदी में महिला-पुरुष की समानता का नारा बुलंद है। स्त्री को अपनी सोच, अपने विचार रखने और उस अनुसार अपना व्यवहार तय करने की ताकत मिली हुई है। पर क्या लड़कियाँ या महिलायें इसका सही इस्तेमाल कर रही हैं? इतना 'एक्सपोजर' मिलने तथा हर पक्ष की भली-बुरी बातों को सोच सकने की क्षमता का विस्तार मिलने के बाद भी अधिकतर घटनाओं में स्त्री का आत्मघाती कदम ही दिखाई दे रहा है। यहाँ तक कि सच्चे या सात्विक प्रेम और वासना में भी वो अंतर नहीं कर पा रही है और बाद में ये साबित कर देती है कि उसने धोखा खाया। यदि उच्चशिक्षा प्राप्ति के बाद भी लड़की जायज और नाजायत शर्तें या चाहतों के बीच अंतर न कर पाये या अनर्गल समर्पण करे तो ये किसकी भूल है। लड़कियों या महिलाओं की इस तरह की आत्मघाती

जीवन शैली किसी भी तरह एक स्वस्थ समाज के लिये उचित नहीं मानी जा सकती।

महिला सशक्तिकरण की जब भी बात होती है तो बिना किसी भेदभाव के इसमें प्रमुख सहायक स्त्री शिक्षा को माना जाता है। वैसे भी शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य पर ही किसी भी समाज का स्वास्थ्य टिका होता है। लड़कियाँ उच्च शिक्षित होती जा रही हैं पर न तो अपनी स्वतंत्र सोच को सही दिशा दे पा रही हैं न सही निर्णय ले पा रही हैं। शिक्षित होकर भी चारित्रिक दृढ़ता का अभाव क्यों नज़र आता है ये चिंता और चिंतन की बात है।

●●●

मासूमियत! वो क्या है?

इक्कीसवीं सदी में लड़कियों में मासूमियत खोजना उसी तरह है जैसे संवेदना तथा अन्य मानवीय गुण। फिर भी मेरी सहेली को तलाश है अपनी बहू के रूप में ऐसी एक कन्या की। उनके हिसाब से उनका बेटा एकदम सुपात्र है, जिसके लिए एक ऐसी भोली, शालीन कमसिन कन्या चाहिए, जिसका भोलापन देखकर किसी का भी मन उसे चाहने लगे, पर वासना की दृष्टि से नहीं।

पचास, साठ, बल्कि सत्तर तक के दशक में ऐसी भारतीय महिलाएँ अधिकांश घरों में होती थीं। उस समय 'प्यार' शब्द आसानी से मुँह में समाता नहीं था, आज तो पारिजात के फूलों की तरह 'प्यार' हरेक शब्द झरता चला जाता है 'आई लव यू', 'आई लव माय कंट्री', 'आई लव यू डैड' और 'आई लव यू मॉम' से लेकर आई लव यू कहाँ तक जायेगा, हम अन्दाज नहीं लगा सकते। एक समय था जब फिल्मों तक में हीरो-हीरोइन खुलकर प्यार का इजहार करें, तब तक कहानी का क्लाइमेक्स आ जाता। पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका तो मान-मनोव्वल इसी तरह चलता कि प्यार करता हूँ या प्यार करती हूँ बोल दे। जब तक शरमा-शरमा कर दो बार बोले, इतना समय निकल जाता कि दो बच्चे हो जाते।

कितने ही लोगों को अभी भी अपनी पत्नी या प्रेमिका का वो भोला चेहरा भुलाए नहीं भूलता, भोले-भाले चेहरे पर मर मिटने वाले उस समय ढेरों थे, लड़की या कन्या कुछ नासमझ हो, दुनियादारी में कच्ची हो, व्यावहारिकता में शून्य हो तो यह उसकी विशेषता मानी जाती थी वरना उसे तेज और गलत सोहबत में पड़ी माना जाता था।

पर इक्कीसवीं सदी में कोई इस तरह की चाहत कैसे कर सकता है? अब जबकि वर्तमान युवा पीढ़ी पहनावे से लेकर काफी हद तक सोच में भी पश्चिमी देशों के प्रभाव में है? पहले कुछ मुद्दों पर लड़कियाँ अपनी माँ तक से संकोच और डर से बातें करती थी, अब उन बातों का खुलासा इतने आमतौर पर होने लगा कि छोटी लड़कियाँ भी वक्त से पहले परिपक्व हो रही हैं। समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ,

दूरदर्शन सभी में जिस तरह कुछ विज्ञापन आते हैं, उसके बाद समझने को बचता ही क्या है? पहले जो प्रश्न मरीज अपने दोस्त या परम हितैषी चिकित्सक तक से पूछने में संकोच करता था, वही प्रश्न धड़ल्ले से पत्र-पत्रिकाओं में सबकी नज़रों को आकर्षित करते हैं और दिमाग को झनझनाते हैं। सेक्स संबंधी लेख तथा प्रश्न-उत्तर निहायत व्यक्तिगत मामले होते हैं पर ये पत्रिकाएँ तो किसी भी उम्र के व्यक्ति के लिए उपलब्ध होती हैं—फिर हम कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि चेहरे का स्वाभाविक सलोनापन और भोलापन बना रहे?

एक समय था जब फिल्मी नायिकाओं के चेहरे पर भी स्वाभाविक भोलापन था। दर्शकों को वे भोली-भाली लुभावनी लगा करती थी, उनकी कच्ची दूधिया हँसी और लुभावनी चितवन पर दर्शक मर मिटते थे। वर्तमान में फिल्मों की कौन कहे, शायद ही कोई क्षेत्र होगा जो 'ग्लैमर' से अछूता हो, हर क्षेत्र में नारी प्रवेश कर चुकी है और आये दिन खुले और सच्चे यथार्थ से दो-चार होती रहती है।

ऐसे में उसकी मासूमियत और उसका भोलापन कैसे सुरक्षित रह सकता है? जिस समाज में हर उम्र की नारी को वासना की दृष्टि भेदती रहे वहाँ वह सामान्य कैसे रह सकती है?

अश्लीलता के बारे में ढेरों परिचर्चाएँ, गोष्ठियाँ आदि आयोजित होती आ रही है। हर गोष्ठि या चर्चा का अंत कुछ इस तरह होता है—'अश्लीलता एक सापेक्षित शब्द है और हर व्यक्ति के लिए इसका मानदण्ड या हद अलग हो सकती है' वित्तेभर की दो चिंदियों को शरीर पर धारण करने में कुछ बालाओं को कोई संकोच या लाज नहीं है। तो कुछ स्त्रियाँ साड़ी-ब्लाउज में भी यह ध्यान रखती है कि, ब्लाउज का गला बड़ा न हो या लंबाई कम न हो। ऐसे में अश्लीलता की हद कहाँ और कौन-सी हो? उसे नापने का कोई मापदंड या मानदंड कैसे हो सकता है? इसी की आड़ लेकर कहने वालों (खासकर कहनेवालियों) और इन परिधानों को (अगर परिधान कह सकते हो तो) पहननेवालियों का यह कहना है कि देखने वालों की नजरों में अगर कामुकता और अश्लीलता भरी है तो उसे सब अश्लील ही लगेगा। संचार माध्यमों का भी दुरुपयोग ही अधिक होता दिख रहा है। टी.वी. का बटन दबाने पर अधिकतर चैनलों पर वहीं कूल्हे मटकाते और वित्तेभर वस्त्रों में ढेर सारे लड़के-लड़कियाँ भद्दे और अर्थहीन गानों के बोल (अगर उन्हें बोल या शब्द माना जाये) पर भौंड़े तरीके से अंग संचालन करते हुए मिलते हैं। एक सही और संतुलित कार्यक्रम देखने के लिए भी उनके अन्नदाता विज्ञापनों की भीड़ से गुजरने का मानसिक संत्रास झेलना पड़ता है। निहायत ही मासूम-सी

(बनावटी) कोई बाला फुसफुसाती है, उसी के नाम (व्हिस्पर) उत्पादन की एक चित्रकथा पेश की जाती है। एकदम वाहियात और गैरजरूरी जानकारी है। दलीलें देने वाले कहते हैं कि भारत में कितने लोगों 'इन दिनों की हाईजीनिक कंडीशन' की महत्ता पता नहीं है। जिन अस्सी प्रतिशत लोगों को ये 'इन दिनों' के आरोग्यशास्त्र समझाइश देना चाहते हैं, उन्हें पीने का पानी तक शुद्ध नहीं मिलता, खाने और रहने के स्थान की शुद्धता तो बाद में आती है।

इन भौंडे विज्ञापनों के विज्ञापनदाताओं ने कभी गहन सर्वेक्षण कर देखा कि इसका असर आम बच्चों और किशोर-किशोरियों पर क्या होता है? व्यक्तिगत तौर पर तथा किशोर-किशोरियों के आपसी व्यवहार और प्राकृतिक स्नेह पर किस तरह यह अप्राकृतिक असर डाल रहा है?

ये जो अंतःवस्त्रों और भौंडे परिधानों का बिना किसी हया के प्रदर्शन करने वालियाँ हैं, इनका प्रतिशत समस्त स्त्री जाति के दस प्रतिशत से भी कम है। पर संचार माध्यमों का विस्तार पिछले कुछ वर्षों में इतना अधिक हो गया है कि, समस्त नारी जाति की पसंद-नापसंद या जरूरतों को यही दस प्रतिशत औरतें रेखांकित करती लगती हैं और नारी जाति की अगुवा भी लगती है।

चारों ओर जब ऐसा वातावरण निर्मित हो गया है तो नवजात शिशु को छोड़कर कोई और इससे अछूता रह सकता है भला? कुछ वर्ष तक महिलाएँ अपने बेटे के लिए महानगरों से बहू लाने में हिचकिचाती थी कि वो तेज तर्रार, कुछ ज्यादा खुले विचार की होती है। जब पूरे देश का वही वातावरण और हश्र हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं। हमारे दिल और मन संकुचित हो रहे हैं और तन खुलता (उघड़ता) जा रहा है, क्या यही आधुनिकीकरण है? यदि इसे आधुनिकीकरण मान कर खुश होते हैं तो गलत होगा। दिल में मन में उदारता और नव-क्रियात्मक या नव-सुविचार के प्रति जागरूकता का संचार हो तो वही सही आधुनिकीकरण होगा, तब सामने वाले के मन में गलत विचार नहीं पनपेंगे और मासूमियत कुछ हद तक बनी रहेगी।

पिछले कुछ वर्षों में हर क्षेत्र में महिलाओं ने अथक प्रयास और परिश्रम से अपना एक विशेष स्थान बनाया है, आत्मगौरव प्राप्त किया है। दो मोर्चे पर एक साथ डटे रहकर उसने अपनी क्षमता का लोहा मनवा लिया। पर विचारों के खुलेपन का अर्थ इस तरह लगाया जायेगा तो नारी केवल प्रदर्शन की वस्तु बनकर रह जायेगी। जब प्रदर्शनी में वस्तुएँ प्रदर्शन के लिए रखी जाती है तो उन पर मूल्य की चिट लग जाती है। ऐसी हालत में आज जिस मुकाम पर नारी अपनी

समझदारी से पहुँची है उसे अपनी ही भूल में खो देगी, इस मुकाम पर जहाँ नारी की राय का, विचार का ध्यान किया जाने लगा है, उसका एक स्वतंत्र व्यक्तित्व बन गया है या बनने की प्रक्रिया में है, वहाँ वह गलत कदम उठाकर अपने सुदृढ़ व्यक्तित्व में दाग लगा सकती है।

नारी के चेहरे पर भोलेपन और मासूमियत की जो आखिरी, हल्की-सी, धुआँ-धुआँ-सी परत है, वह प्याज के छिलके की तरह उतर जाए उससे पहले सतर्क हो जाना आवश्यक है वरना तो शब्दकोश है ही मासूमियत या भोलेपन का अर्थ खोजने को।

●●●

गृहिणी क्यों न गर्व करे?

अमला के घर गई थी, बुनाई सीखने और जब लौटकर आई तो बुनाई के अलावा दिमाग में प्रश्न, अमला का असंतोष और न जाने क्या-क्या भरा हुआ था। मैंने केवल इतना ही पूछा था—'अमला, और क्या चल रहा है? आजकल नया क्या कर रही हो?'

लम्बी साँस खींचती हुई बोली—'हमारा क्या है भाभीजी, कितना भी करो, कुछ भी करो, रहेंगे तो वही हाऊस-वाइफ ही न!

मैंने भी स्थिति की गंभीरता को न समझते हुए हँसते हुए बोल दिया—'अरे तो उसमें बुराई क्या है? गृहिणी तो सभी स्त्रियाँ होती है?'

'पर गृहिणी के अलावा वे नौकरीपेशा भी तो होती हैं। भले ही वे अपना घर ठीक से संभाले या नहीं, परिवार की देखभाल सही तरीके से करें या न करें, पर गृहिणी तो कहलाएँगी। नौकरीपेशा हैं, इसलिए वैसे भी वो लोग स्वतंत्र भी हैं।'

'अरे तो ऐसी औरतें दोहरी जिम्मेदारी में पिसती जाती हैं। हम-तुम कितने आराम से हैं, ठाठ से हैं अपना घर संभालो और बस! बाहर जाकर नौकरी करने से जो तनाव उत्पन्न होता है, उससे भी बचे हुए हैं।'

मेरी दलीलें अमला को कितना आश्वस्त कर पाईं, मालूम नहीं। उसके चेहरे से असंतोष, खीज के भाव तब भी साफ झलक रहे थे। ऐसा लग रहा था मानो उसे गृहिणी कहलवाना नागवार लग रहा हो।

'अमला ही नहीं और भी कई महिलाएँ हैं, जो बड़े दुखी स्वर में कहती मिलेंगी, हम तो केवल गृहिणी हैं। जब इनसे पूछा जाता है कि आप क्या करती हैं तो बिना किसी झिझक के दूसरे ही क्षण उत्तर मिल जाता है, 'जी कुछ नहीं'। मानो घर-परिवार संभालना, कोई मायने ही न रखता हो। कई तो ये बताती हुई शर्माती हैं कि वे केवल गृहिणी हैं, कहीं नौकरी नहीं करती। माना कि वर्तमान परिस्थिति में पति-पत्नी दोनों का नौकरी करना आवश्यक-सा होता जा रहा है।

पर केवल इसी कारण केवल गृहिणी बने रहना कोई लज्जा की बात नहीं। हाँ, अगर आप गृहिणी बने रहने में गर्व महसूस करने लायक कार्य करें।

जिस तरह पुरुष नौकरी करके अपने आपको गर्वित महसूस करता है स्त्री को पूरा हक है कि वो घर को सुचारू रूप से चलाकर गृहिणी के पद को सुशोभित करते हुए गर्वित हो—एक कुशल गृहिणी होना इतना सरल कार्य भी नहीं है। गृहिणी ही है जो घर के हर सदस्य का मन और स्वास्थ्य देखकर अमृतपान कराती है। जितने प्रेम और जतन से वो खाना बनाती है, वो अमृत से कम नहीं माना जा सकता है। अब तो गृहिणी के दायित्व इतने बढ़ गए हैं, कि वह केवल अन्नपूर्णा ही नहीं रह गई। बच्चों की नैतिक शिक्षा तो प्राचीनकाल से ही माँ की जिम्मेदारी रही है। अब तो स्कूली शिक्षा और बच्चों के अन्य क्रियाकलापों में भी बच्चों को माँ का मार्गदर्शन व सहायता मिलती है। घर से बाहर के कितने ही काम अब गृहिणी करने लगी है। यह तभी सम्भव हो पाया, जब गृहिणी पढ़ी-लिखी हो।

कुछ औरतें उदास होकर कहती हैं—'क्या फायदा बी.ए., एम.ए. होकर। थापना तो वो ही रोटी है।' शब्दों की कड़वाहट और बोलने के ढंग से ऐसा लगता है, मानो कंडे थापने का कह रही हों। जो रोटी जीवनदायिनी है, जिसके बिना एक दिन नहीं निकल सकता, उसके उल्लेख में इतनी उपेक्षा, असल में ये उनकी खीझ है। अधिकतर पढ़ी-लिखी महिलाओं को यह लगता है, उन्होंने स्नातक या स्नातकोत्तर होकर नौकरी नहीं की तो उनकी पढ़ाई का क्या फायदा? वैसे देखा जाए तो स्कूल और कॉलेज की शिक्षा प्राप्त करने का सीधा-सादा मतलब नौकरी से जुड़ा हुआ है।

स्त्रियों के लिए अभी भी नौकरी करना एकदम अनिवार्य नहीं है। ऐसी परिस्थितियों के लिए जब नौकरी करना एक जरूरत होती है, उच्चशिक्षा और डिग्री की आवश्यकता होती है। इसके अलावा आगे चलकर हमसे अगली पीढ़ी को या यूँ कहें कि कम से कम अपने ही बच्चों को शिखा में मदद दे सके, उनकी कठिनाइयों को समझ सकें, इसके लिए भी तो आवश्यक है कि स्त्रियाँ शिक्षित हों। वर्तमान में संचार माध्यम इतने उन्नत हो गए हैं। पत्र-पत्रिकाओं में रसोई से लेकर ड्राइंगरूम तक और बुनाई-कढ़ाई से लेकर गम्भीर और मनोवैज्ञानिक तथ्यों के लेख आते हैं। पढ़ी-लिखी होने से इनका उपयोग वे अपने-अपने परिवार के व स्वयं के हिसाब से कर सकती हैं।

इसी प्रकार जीवन के हर क्षेत्र में भले-बुरे की पहचान व मानसिक दायरे की विस्तृतता के लिए तथा सोचने-समझने की शक्ति इन्हीं माध्यमों से हम घर

बैठे-बैठे प्राप्त कर सकते हैं। पूर्णकालिक गृहिणी होने के कारण ऐसी स्त्रियाँ परिवार और घर के सुधार के लिए नए-नए प्रयोग कर सकती हैं। इसमें भी एक आनंद है, जो केवल अनुभव किया जा सकता है। इसे नौकरी के पारिश्रमिक के रूप मे मिले रुपयों से नहीं तौला जा सकता।

नौकरी करने से कुछ हद तक स्त्री आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो जाती है, यह सच है। पर जरूरत और प्राथमिकता के आधार पर परिवार के हर सदस्य के ऊपर आमदनी का कुछ भाग खर्च होता है। कुछ स्त्रियाँ अपने आपको घर का सबसे निकृष्ट सदस्य मानती हैं और जरूरत के पौष्टिक भोजन या दूध-दही से अपने आपको वंचित रखती हैं। उनको लगता है, उन्होंने महान त्याग किया है। दूसरी तरफ कुछ स्त्रियाँ अपने शृंगार में व चटपटा चाट-पकौड़ी बाहर खाने में खर्च करने में जरा भी कतराती नहीं है। तब कौन स्वतंत्र है और कौन नहीं।

सफल गृहिणी तो वो है, जो परिवार के बाकी सदस्यों के साथ अपनी भी सेहत का ख्याल करती है। अपने को भी परिवार का उतना ही महत्वपूर्ण सदस्य समझती है, जितना पति और बच्चे को। हीनभावना से ग्रस्त न होकर गृहिणी के दायित्व सफलतापूर्वक निभाते हुए, अपने आत्म-सम्मान को नजरअंदाज न करते हुए और अपने कुछ शौक और मनोरंजन का सामान जुटा लें तो फिर गृहिणी अपने ऊपर गर्व क्यों न करें?

क्या अब भी पढ़ी-लिखी, पूर्णकालिक गृहिणी ये कहना चाहेंगी कि वे कुछ नहीं करती और कुढ़ती रहेंगी।

●●●

प्रतिस्पर्धा या सहयोगी

चाकू, छुरी, कैंची की मोथरी धार को पैना करना उस दम्पति का व्यवसाय है। औरत चाक पर लिपटे चमड़े के पट्टे को खींचती है और उसका पति चाक के किनारे चाकू के फाल को रखकर धार बनाता है। उस दम्पत्ति को देखकर न जाने क्यों दिल को तसल्ली हुई। दोनों के चेहरे पर एक संतुष्ट मुस्कान पसरी हुई थी, फटे-पुराने, धूल-धूसरित वस्त्रों में न जाने जीवन की कितनी ही कमियों के बीच दोनों असमय वृद्ध होते हुए भी मन को क्यों भा गये। दोनों का आपसी व्यवहार, सखाभाव देखकर लगा कि पढ़े-लिखे पति-पत्नी का आधा जीवन बहस, व्यर्थ के छोटे-छोटे झगड़ों और अहं के टकराव जैसे चोचलों में ही निकल जाता है।

मध्ययुगीनकाल से जिस पर्दे के पीछे नारी को रहना पड़ा, वो उठा ही था। नारी ने अपने साहस, परिश्रम और दोहरे दायित्व का भार उठाते हुए शिक्षा प्राप्त की। उसे परिवार और समाज से कई बार दुत्कार, झिड़क और असहयोग मिला, पर हर बार वो एक नये निश्चय के साथ उठ खड़ी हुई। उसे चाहिये था पुरुष के समान, पुरुष के बराबर एक इन्सान होने का सम्मान याने उसे भी जीते-जागते इन्सान के रूप में मर्यादा मिले। घर की सजावटी सामान या परिवार की दासी या पुरुष की भोग्य ही नहीं बनकर रहना चाहती थी। इस स्थिति से उबरने के लिए उसने जो हाथ-पैर मारे, उसी के फलस्वरूप पिछले कुछ अरसे से नारी हर क्षेत्र में दिखाई दे रही है, पर इतने परिश्रम, दोहरे दायित्व का भार उठाने पर भी नारी की चाहत पूरी हुई क्या?

ऐसा मान्यता है कि आदमी जितना ज्ञान पाता जाता है, उतना ही नम्र और खुले दिमाग और विचार का होता जाता है, पर हम देख रहे हैं कि लगातार डिग्रियों का लबादा ओढ़ते हुए भी स्त्री और पुरुष में सामंजस्य का अभाव बढ़ता ही जा रहा है। आपसी सामंजस्य एक-दूसरे के प्रति, परिवार के प्रति समझदारी और मित्रतापूर्ण भाव से न होकर 'मैं भी रानी, तू भी रानी....' की तर्ज पर हो रहा है। दोनों एक-दूसरे के पूरक न होकर प्रतिस्पर्धी बनते जा रहे हैं।

पुरुष अपना स्वामित्व अभी भी कायम रखना चाहता है, नारी पर हक जताना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है। नारी इसी बात पर बिदकती है। मित्रवत या सखाभाव से किसका किस पर हक हो और कौन दास/दासी हो सकता है, दोनों एक स्वतंत्र इन्सान रहें, जिनका अपना व्यक्तित्व, अपनी काबिलियत हो, इस स्वकाबिलियत से जो जितना अर्जन कर सके या उसकी काबिलियत या निपुणता के अनुसार जो उसे मिले, उससे उसके व्यक्तित्व का निर्धारण हो। नारी बस यही छूट चाहती है कि उसे भी पुरुष के समान अवसर मिले। इसके लिए हमें घर से शुरुआत करनी पड़ेगी। बेटे-बेटी से व्यवहार में असमानता को दूर करके।

अगर पुरुष नारी को पूरक के बजाय प्रतिस्पर्धी मानता है तो स्थिति भयंकर है और भविष्य में और त्रासदायी हो जायेगी, यदि नारी कवेल पुरुष को नीचा दिखाने को अपने आपको स्थापित करना चाहती है तो ये प्रवृत्ति और भी विस्फोटक है। पुरुष और नारी को मानसिक स्तर पर भी स्नेह भाव और मित्रता रखनी होगी, तभी दोनों के बीच के सेतु के नीचे जो धारा प्रवाहित होगी, वो मित्रता की होगी न कि प्रतिस्पर्धी की।

●●●

एक दीप मैं भी जलाऊँ

आज की अर्थव्यवस्था में यूँ तो सभी परेशान हैं, पर महिलाओं को तो सर्कस के कुशल ट्रेपीज कलाकार की तरह सधना और साधना पड़ता है। रोजमर्रा की जिंदगी वैसे ही इतनी जटिल, कठिन और दुर्वह हो गयी है कि हर तबके की महिला को कहीं न कहीं, कभी न कभी घुटने टेकने पड़ते हैं। मध्यमवर्गीय शिक्षित गृहिणी को तो हर तरह की कठिनाई का सामना करना पड़ता है। उसे शारीरिक, मानसिक दोनों श्रम करने पड़ते हैं, समाज और समय के साथ कदम मिलाकर चलने का प्रयास भी करना पड़ता है।

जीवन जिस तरह अनिश्चित अवस्था में आ गया है, प्रायः सभी की मनोवृत्ति यही हो गयी है कि आज है, पता नहीं कल रहें न रहें, सो जो इच्छा हो पूरी कर लें, जो भोगना है भोग लें। हालाँकि ये मनोवृत्ति हर वर्ग की महिला के एहसास को जगाती है। उच्चवर्ग की महिला की दीपावली और होली तो किसी त्योहार या तीज की मोहताज नहीं होती। जब मन करता है, ये तड़क-भड़क और शान से अपने मनमाने तरीके से मनाते हैं। इन्हें बजट बनाकर, खर्च पर अंकुश रखकर या पैसों को दाँत से पकड़कर खर्च करने की जरूरत नहीं पड़ती।

निचले तबके की औरतों पर अभी तक तो 'कुआँ खोद-पानी पी' वाली कहावत ठीक थी, पर अब ये औरतें अपने श्रम को पहचानकर कीमत वसूलने लगी हैं, घरों में काम करने वाली बरौनी, छोटे-मोटे उद्योग-धंधों या मजदूरिनें ऐसी औरतों की श्रेणी में आती हैं। अब इनके बचत खाते बैंक में खुलने लगे हैं, इनका आत्म-विश्वास कई गुना बढ़ गया है। त्यौहार पर ये लोग बोनस या इनाम का पैसा खर्च कर 'सालभर में एक ही बार तो दीपावली आती है' वाली मनोस्थिति में खुश हो लेती हैं।

असली परीक्षा तो मध्यवर्ग की गृहिणी की है। नपा-तुला वेतन, बजट बना-बनाकर वो परेशान हो जाती है, पर बजट है कि संतुलित होने का नाम ही नहीं लेता। बजट संतुलित हो भी कैसे? आज जो दाम वस्तुओं के हैं, कल उससे

अधिक ही होंगे। किराने की वस्तुओं में कतर-ब्यौंत करें या दूध-सब्जी में, घी-फल और कई अन्य वस्तुओं में तो काफी कैंची चल ही चुकी है, त्यौहार पर बच्चों के नये कपड़े बनवाये या पटाखे ले, खुद नौकरी करती है, तो अपने वस्त्रों का भी ख्याल रखना पड़ता है। मध्यम वर्ग में इस मामले में केवल पत्नी ही नहीं, पति भी त्याग करने को तैयार रहते हैं। केवल बच्चों की माँग या जरूरत को ही प्राथमिकता दी जाती है। पति इतना त्याग करके ही सबकी नजरों में महान बन जाता है। पत्नी को जो त्याग करने पड़ते हैं या जिस स्थिति से गुजरना पड़ता है, उसे प्राकृतिक या सहज मान लिया जाता है।

मध्यम वर्ग की गृहिणी को अपनी रोज की दिनचर्या (जिसमें नौकरी भी सम्मिलित है, अगर करती है) के साथ त्यौहार की तैयारी भी करनी पड़ती है, उसका बजट उसे बाहर की महँगी मिठाई लेने की अनुमति नहीं देता। समझदार और शिक्षित होने से चाहे जैसी और कुछ घटिया मिठाई भी वो नहीं खरीदेगी। खुद ही बनाती है। ऐसे हालात में शारीरिक श्रम तो फिर भी कभी-कभी महसूस किया जा सकता है, पर इसमें जो मानसिक तैयारी लगती है, वो नजर नहीं आती। जब तक पकवान सही-सही अच्छे से न बन जायें, तब तक उसकी जान सांसत में रहती है। शक्कर, घी व अन्य पदार्थों के आसमान छूते भाव उसे वैसे ही आतंकित किये रहते हैं। पकवान के बन जाने पर कंजूस के खजाने की तरह उनकी रखवाली करनी पड़ती है। किसको घर की मिठाई दी जाये कितनी दी जाये, बाजार की मिठाइयों के साथ क्षतिपूर्ति किस तरह की जाये। ये सारे आंकड़े और गणित के प्रश्न भी उसे ही हल करने हैं। इतना सब करने के बाद भी पूरी संभावना रहती है क वो असफल हो जाये या मानी जाये, क्योंकि सफलता का मानदंड तो अधिक से अधिक लोगों को खुश करने से माना जाता है, न कि उसके अथक श्रम से। उसका श्रम तो पुनः एक बार बिना मूल्यांकन किये रह जाता है। फिर भी दीपावली पर दीप तो वो जलायेगी ही।

●●●

पति-पत्नी का आदर्श स्वरूप : दोस्ताना व्यवहार

अपने इस पारंपरिक, पुरुष-प्रधान और पिछड़े माने हुए सामंतशाही समाज में ही नहीं, पश्चिम के उन तथाकथित विकसित समाजों में भी महिलाओं के साथ यौन छेड़छाड़ के मामले बढ़ते जा रहे हैं। जहाँ की मुक्त कही जाने वाली महिलाएँ जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों की बराबरी कर रही हैं। उस अमेरिका में भी जहाँ के टूटते वैवाहिक जीवन के बारे में इतालवी तारिका जीना लोलो ब्रिगिडा ने एक बार मजेदार और पते की बात कही थी। जीना ने कहा कि हम इतालवियों का वैवाहिक जीवन अमेरिकियों से ज्यादा सुखी है और हमारी उमर भर निभ जाती है। इसका एक कारण यह है कि हम इतालवी महिलाओं को मूरख बने रहना आता है। पुरुष के अहम को, यह मान और समझकर बड़ा संतोष मिलता है कि उसकी पत्नी मूर्ख और बुद्धू है। इस कारण वे अपने को निश्चिन्त और सुरक्षित महसूस करते हैं और पत्नियों से बंधे रहते हैं।

हमसे पिछली पीढ़ियों में जब विवाह बहुत ही छोटी उम्र में हो जाता था, लड़की या पत्नी, पति से हर स्तर पर यानी उम्र से, समझ से, अनुभव से बहुत छोटी होती थी। वह पति को स्वामी के अलावा कुछ मान ही नहीं पाती थी। कहीं किसी पत्नी के मन में इससे हटकर कुछ भाव आता भी था, तो वह अपने आपको अपराधी महसूस करती। पति भी पत्नी पर अपना स्वामित्व समझता था और अधिकार जताता था। इससे पत्नी भी अक्सर घर की दूसरी बेजान वस्तुओं की तरह होकर रह जाती। हालाँकि विवाह मंत्र तो उस समय भी वही थे कि पति-पत्नी एक दूसरे के दुःख-सुख में भागीदार होंगे और पति का दायित्व है पत्नी की रक्षा करना। घर के अंदर की विरोधी ताकतों से पत्नी खुद ही जूझती रहती थी और बाहर की ताकतों से पति को इसलिए लड़ने की आवश्यकता नहीं होती थी कि उस समय औरतें कम ही बाहर निकलती थीं।

वर्तमान में जब पत्नी, पति के बराबर या अधिक शिक्षित होती है, अनुभवी

और समझदार होती है, तो संदर्भ बदल जाते हैं। वे विवाह के मंत्रों को समझती भी हैं और वक्त पड़ने पर बहस भी करती है और प्रश्न भी करती है। एक इंसान के तौर पर पत्नी का ऐसा करना वाजिब भी है, क्योंकि वर्तमान में ही पति-पत्नी एक दूसरे के सह-भागीदार सिद्ध हो रहे हैं। कुछ समय का तकाजा भी है कि अधिकतर पत्नियाँ आर्थिक रूप से पति या परिवार को मदद करने लगी हैं। पति भी अपनी शिक्षित पत्नी से दफ्तर की, घर की, बाहर की चर्चा मित्रवत् तरीके से कर पाता है और सलाह भी लेता है। पति-पत्नी का यह रूप सबसे आदर्श स्वरूप है। दोनों एक दूसरे का आदर एक इंसान के तौर पर करते हैं। आपस में इतना खुलापन, इतनी समझदारी और एकजुट होकर परिवार की चिंता अब सम्भव है। पहले की तरह संयुक्त परिवार भी नहीं हैं, जो कुछ करना है मुख्यतः पति-पत्नी और बच्चों से संबंधित होता है। सो काफी हद तक एक सीमित संयुक्त स्वार्थ दोनों को जोड़े रखता है। जब हर काम मिलकर होता है, तो मित्रता और सहभागिता का अंश ज्यादा ही होगा। ऐसे में किसी भी पक्ष के मन में कुंठा नहीं पनपती और परिवार का एक स्वस्थ स्वरूप देखने को मिलता है।

रही बात प्रतिद्वंद्विता की भावना की, तो वो असामान्य परिस्थिति में या किसी एक पक्ष या दोनों पक्षों की नासमझी से ही आ सकती है। जहाँ पति अभी भी पत्नी को अपने से कमतर समझना और देखना चाहता है तो वह उसकी समझदारी या प्रशंसा सहन नहीं कर पाता है। उसके मन में कुंठा घर कर जाती है तब उसे पत्नी प्रतिद्वंद्वी ही लगेगी।

●●●

प्रशंसा स्वीकारने की कला सीखें

'नीलू, इस गुलाबी साड़ी में कितनी सुंदर लग रही है।' विनीता ने सच्चे मन से नीलू की प्रशंसा की, पर नीलू ने अपने स्वभावानुसार कहा—'विनीता, आज सुबह से कोई नहीं मिला क्या?'

'क्या मतलब?'—विनीता अपनी आदतानुसार सीधी सहज बात ही समझती थी। तब तक पास खड़ी रीमा बोली—'विनीता, तू भी बस! नीलू के कहने का मतलब है आज सुबह से बेवकूफ बनाने को कोई नहीं मिला।'

'क्या?, मैं तो सहज सच्चे मन से तारीफ कर रही हूँ।' विनीता उखड़े मन से बोली। 'तुम तो अच्छे और सच्चे मन से प्रशंसा कर रही हो, पर नीलू उसे तरीके से स्वीकार नहीं कर रही है।' —रीमा बोली।

प्रशंसा करना कला है तो उसे गरिमायुक्त तरीके से स्वीकारना भी एक कलात्मक अभिव्यक्ति है। कहने को तो कहने वाले कह देते हैं कि किसी की प्रशंसा करने में खर्च क्या होता है। बस जरा मुस्करा दो और वाहवाही के दो बोल बोल दो। पर सोचकर देखा जाए तो क्या सच्ची प्रशंसा का इतना ही मोल है? जब इंसान दिल से उठे भावों को शब्द रूप देकर किसी को प्रेषित करता है तो क्या वो अनमोल नहीं हो जाता। वैसे वर्तमान भौतिक युग में भावनाओं की बिसात ही क्या रह गई है। हर चीज, हर बात, यहाँ तक कि हर कल्पना और विचार को भी धन से ही तौला जा रहा है। एक विवाह समारोह में एक महिला ने अपनी परिचिता की नई कार की तारीफ की। नई चमचमाती कार कोई भी लेता है तो बधाई देना लाजमी है। कार वाली महिला बोल पड़ी—'ज्यादा 'बटरिंग' मत कर, 'मैं लिफ्ट नहीं देने वाली' बोली जरूर हंसते हुए, पर चेहरे के हावभाव और नकली बिखरी हँसी से कोई भी उनके दिल की कड़वाहट को जान सकता था। प्रशंसा करने वाली महिला खिसियाकर हँसती रह गई। भले ही दिल उनका रोने-रोने को हो रहा था। अब वो किसी की तारीफ करने से पहले सौ बार स्वयं से पूछती हैं, तारीफ करूँ या न करूँ। प्रशंसा एक तरह का सकारात्मक प्रोत्साहन है। अपने

अधीन कर्मचारी हो, सहायक हो, बच्चे, नौकर, साथी यहाँ तक कि पालतू पशु भी इसी तरह का प्रोत्साहन चाहते हैं। पुरस्कार या दंड वांछित क्रिया के संपन्न हो जाने के बाद दिया जाता है, पर सकारात्मक प्रोत्साहन किसी भी स्तर पर हो सकता है। कार्य सम्पन्न होने से पहले, कार्य के दौरान या अंत में। यहाँ तक कि मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि कुछ विशेष अच्छा करने पर इंसान को अपनी पीठ भी थपथपा लेनी चाहिए। इससे उत्साह और ऊर्जा दोनों मिलते हैं।

बच्चों को कोई नई बात सीखने, मसलन साइकिल चलाना सीखने के दौरान प्रोत्साहन की जरूरत है। बच्चे का प्रयास सही और सार्थक हो इसके लिए उसे सही तरीका बताना जितना जरूरी है उतना ही उस सही तरीके को अपनाने पर तारीफ करना। इस प्रशंसात्मक उत्साहवर्धन की बहुत अहमियत होती है। बस इस प्रशंसा की अति न हो और प्रयास सफल हो जाने पर बंद हो जाए।

चापलूसी को कई लोग प्रशंसा मानकर फूल जाते हैं। चापलूसी जो कि झूठी तारीफों के अलावा कुछ नहीं। इसके बदले में कुछ पाने का मकसद होता है, यह उत्कोच का ही एक रूप होता है। इसे पसंद करने वाले प्राप्त कर बिदकते नहीं हैं, भौतिक रूप से फायदा जो होता है। पर भावनाएँ ही हैं जो व्यक्ति को वास्तविक खुशी, सुकून, उत्साह तथा हौसला देती है। किसी के लिए दिल को जो महसूस होता है उसे शब्दों की नरमी तथा भावनाओं की गरमी से त्वरित टिप्पणी के रूप में कोई प्रेषित करता/करती है। पाने वाला भी अगर गरिमापूर्ण तरीके से उसे स्वीकारता है तो लेने और देने वाले के बीच भावपूर्ण तंतु मजबूत ही होते हैं। दूसरी अवस्था में, अर्थात् जिस तरह नीलू या कार वाली महिला ने व्यवहार किया, दोस्ती के बीच खाई भी खुद सकती है।

●●●

बच्चों को स्कूल भेजने के बाद माँ की जिम्मेदारी

बच्चा जब चलने-फिरने, बोलने लगता है तो उसकी शैतानियां भी बढ़ जाती हैं। अक्सर माताओं को हम कहते सुनते हैं, ''अब चिंकी को नर्सरी में डाल देंगे। इसकी शैतानी के मारे नाक में दम आ गया।'' क्या वास्तव में बच्चों को सिर्फ इसलिए नर्सरी या स्कूल भेजते हैं कि वह घर पर शैतानी करता है और इस तरह भेजने से माँ को थोड़ी राहत मिलती है? बल्कि माँ को उसे स्कूल भेजने के पहले खुद को और बच्चे को मानसिक रूप से तैयार होना पड़ता है। दोनों को शुरू में एक-दूसरे के बिना कुछ दिनों तक अलग रहना मुश्किल लगता है।

इसी तरह बच्चे को स्कूल भेजने के बाद माँ को मानसिक रूप से काफी सजग रहना पड़ता है। होशियारी से काम लेना पड़ता है। खासकर जब वह रोज लौटकर घर आता है। स्कूल से लौटने पर वह पूरे जोश में होता है। उमड़ते-घुमड़ते विचारों को, स्कूल में हुई दिनभर की बातों को, अपने नन्हें से मन में आते ही अपनी प्यारी मम्मी को सारी बातें पूरे उत्साह के साथ जब तक बता नहीं देता, उसका उबाल शांत नहीं होता। अब यही देखिए। अलग-अलग माताएं, अलग-अलग तरह से व्यवहार करती हैं। एक माँ सोचती है, ''बेटा फालतू बोले जा रहा है। पता नहीं स्कूल में पढ़ता भी है या नहीं। वह बच्चे को बीच में ही टोक देती है, ''अरे, बस बहुत हो गया। अब हाथ मुंह धोकर कपड़े बदल लो। छी-छी! कितने गंदे हो गए। बच्चा बेचारा मुंह लटका लेता है। उसके बाल मन को ठेस पहुंचती है। कई माताएं सिर्फ बच्चे का पेट भरना ही काफी और जरूरी समझती हैं। स्कूल से बच्चे के आते ही दूध-नाश्ता उसके सामने रखकर खाने को बार-बार कहेंगी। बच्चा स्कूल से आता है तो भूख थोड़ी बहुत होगी ही और वह दूध पीना, नाश्ता खाना सब चाहता भी होगा। पर आते ही थोड़ी सांस लेना चाहता है। स्कूल के नियम और कक्षा के नियमों के अंतर्गत चार-पांच घंटे रहने के बाद घर में वह

एक चहकती-फुदकती चिड़िया की तरह रहना चाहता है। खासकर आने के बाद एक-आध घंटे तो वह इस स्वतंत्रता को अच्छी तरह, बड़े मजे से भोगना चाहता है। पर जब उसकी इस चाह में अड़चन आती है तो उसके बाल-मन में विद्रोह की पहली किरण फूटती है। यहीं से दूध न पीने, नाश्ता न करने की जिद शुरू होती है।

एक और माँ है, जो अपने ही काम को सबसे अधिक महत्व देती है। चाहती है सारे काम जल्दी-जल्दी खत्म हों, बस! बच्चे के सामने दूध-नाश्ता, रखकर अपने अन्य कामों में यूं मग्न हो जाएगी कि बच्चे को एक बारगी भूल जाएगी। कभी-कभी तो उसका ध्यान अपने काम से तब हटता है जब बच्चे की जगह बिल्ली दूध पी रही हो या चिड़िया नाश्ते को मेज पर बिखराती फुदक रही हो।

एक चौथी प्रकार की माँ भी है। देखिए वह स्कूल से लौटे अपने बच्चे का स्वागत किस तरह करती है। बच्चे की आवाज सुनते ही मुस्कराते या खिले चेहरे से दरवाजा खोलती है। उसकी बातें सुनते-सुनते और बीच-बीच में आश्चर्य या खुशी व्यक्त करते हुए उसको महसूस कराती है कि उसकी बातों को ध्यान से सुना जा रहा है। साथ ही धीरे-धीरे उसके जूते-मोजे उतारती या उतरवाती है। बस्ता ठीक जगह पहुँच जाता है या उसके सामने ही उसकी कापियाँ और डायरी देखती जाती है। उसकी खुशी और उत्साह बढ़ जाता है। उसकी बातों को थोड़ा धीरज से सुन लेने के बाद वह खुद ही ठंडा पड़ जाता है और उसे एक संतोष मिलता है। फिर तो वह न दूध पीने में नखरे करता है और न नाश्ता करने में परेशान करता है। माँ के प्रति उसका प्रेम-सद्भाव इससे और बढ़ जाता है।

सप्ताह के पाँच-छह दिन के टिफन में रोज रोटी और आलू की सब्जी की बजाय अलग-अलग तरह की सब्जी, कभी ब्रेड, सैंडविच और पाँच-छः दिन में एक बार उसकी पसंद की सब्जी या मीठा इत्यादि भी टिफन में रखें। अक्सर महिलाएं कहती हैं, उनका बच्चा सिवाय आलू के और कोई सब्जी नहीं खाता। हरी सब्जियों का अपना अलग ही महत्व और स्वाद होता है। बच्चों में हरी सब्जियों के प्रति रुचि उत्पन्न करना बहुत आवश्यक है। इसके लिए उनको कहानी के रूप में या बातों-बातों में समझाना चाहिए कि हरी तरकारी से आँखें, बाल आदि अच्छे और सुंदर होते हैं। बच्चे को उम्र के हिसाब से बाकी फायदे भी बताए जा सकते हैं। हरी सब्जी बनाकर उसके टिफन में बिना उसे बताए रख दें। साथ ही एक-आध टाफी या कोई मीठी चीज अगर गुड़ पसंद हो तो उसी का एक टुकड़ा रख दें।

लंच के समय बच्चा भूखा होता है और कई बच्चों के साथ रहता है। धीरे-धीरे वह कई तरह की सब्जी खाने का आदी होता जाएगा। इस तरीके में धैर्य की बहुत आवश्यकता है, साथ ही थोड़ी कठोरता और प्रेम के सम्मिश्रण की थी। यह आवश्यक नहीं कि पकवान या सब्जी महंगी हो, पर यह आवश्यक है कि टिफन में खाने की चीजें बदल-बदल कर रखी जाएं।

कभी भी मन में यह ख्याल न लाएं कि बच्चे को स्कूल भेजकर आप खूब आराम कर सकती हैं या उपन्यास पढ़ सकती हैं अथवा स्वतंत्रता से घूम-फिर सकती हैं। आराम, पढ़ना-लिखना और घूमना हो सकता है, पर सोच-समझकर व सीमा में। आप उपन्यास पढ़ने में इस तह मशगूल न हों कि बच्चा जब स्कूल से लौटकर आए तो घर में खाने को कुछ न हो। आप बाहर गई हों और बच्चे के लौटने के पहले घर न आएं तो बच्चा अपने आपको उपेक्षित महसूस करेगा। भले ही वह मुंह से बोलकर अपने भाव समझा न पाए। यह मत सोचिए कि "अरे जाने दो, बच्चा ही तो है। यह मत भूलिए कि बाल-मन पर जो भी प्रभाव पड़ता है वह करीब-करीब उसकी सारी जिन्दगी में उसका स्वभाव निर्धारित करता है।

आप उसकी बातों को सुनने में रुचि नहीं लेंगी तो स्कूल में क्या-क्या होता है, यह पता ही नहीं लग पाएगा। जैसे आपका बच्चा किसी में उलझ गया, मार-पीट हो गई। पूरी बात जानने के लिए आपको बच्चे के साथ धीरज से काम लेना पड़ेगा। हो सकता है कि एक बैठक में आपको पूरी बात का पता ही न लगे। कई बार हंसी-मजाक से असली बात निकल आती है। जैसे, बच्चे के कपड़े, अत्यधिक गंदे देखकर यह कहा, "क्यों भई किससे कुश्ती लड़ी?" बस बच्चा शुरू हो जाता है, "बस मैंने भी संजय को घूंसे ही मार दिए, मुझे धक्का देकर गिराता भी है और ऊपर से चिढ़ाता भी है।" बच्चे को लगता है कि उसने ठीक ही किया है। वैसे अन्याय न सहने के लिए उसे सीख देनी है पर उसका भी सही तरीका हो और यह भी कि कहीं उल्टे उसे ही हानि न हो जाए। इस तरह असील बातें जब निकल आती हैं तो आप अपने बच्चों के स्वभाव का कोई अनदेखा पहलू देख सकते हैं, इसकी पूरी संभावना रहती है। हो सकता है हमारे बच्चे में कोई अवगुण हो जिसे हमने कभी जाना ही नहीं। यह न सोचिए कि अवगुण का पता लगने से ही बच्चा बिगड़ा हुआ है—वरन् अवगुण छिपा रहे तो उसको ज्यादा हानि होगी। पता लगने पर तो आप उसमें सुधार कर ही सकती हैं।

सुबह स्कूल जाने से पहले उसकी तैयारी बेगार न मान कर मन लगाकर करनी चाहिए। यह नहीं कि बस जल्दी से किसी तरह तैयार करके भेज दें तो

आपको आराम मिले। कभी न कभी बच्चा आपकी जल्दबाजी और बौखलाहट ताड़ जाएगा। तब वह स्कूल न जाने की भी जिद कर सकता है।

बच्चे की बातें सुनने, उसकी कापी, किताबें, डायरी नियमित रूप से देखने से उसके काम से भी आप अवगत होंगी और बच्चे में विचार व्यक्त करने की शक्ति बढ़ेगी। वह अपना गृह कार्य ठीक ढंग से कर सकेगा। उसकी प्रगति में ये बातें सहायक होंगी। आप उसकी माँ ही नहीं एक धैर्यवान साथी, मद्दगार, अंतरंग मित्र सब कुछ हैं, यदि आपसे उसे सही दिशा न मिले तो बच्चा गलत हाथों में पड़ जाएगा और आप उसे खो देंगी।

आज के युवा वर्ग की अनुशासनहीनता में बचपन में उनकी माँ की मानसिकता की भूमिका का प्रभाव भी होता है।

●●●

केवल निमंत्रण नहीं, सफाई भी

सफाई पर लेख की बात सुनते ही भीतर कहीं कुछ खटकता है, हठात मुँह से निकल पड़ता है, "अरे, सफाई का महत्त्व कौन नहीं जानता? स्वच्छ रहना भला किसे पसंद नहीं है?" पर जरा गौर से देखिए, क्या ऐसा कहने वाले सभी व्यक्ति स्वच्छता से रहते हैं? वैसे स्वच्छता एक सापेक्ष शब्द है, इसलिए हर व्यक्ति के सफाई संबंधी दृष्टिकोण में अंतर हो सकता है।

फिर भी सफाई के बगैर जीवन में ताजगी नहीं रहती, इसलिए उसको महत्त्व देना जरूरी है। सफाई के बारे में एक भ्रांति यह है कि जो महिला अपने घर की सफाई का बहुत ज्यादा खयाल करती है, उसके पति उससे कम प्यार करते हैं, क्योंकि इस सफाई के चक्कर में उनको अनुशासन और बंधन में रहना पड़ता है। आजकल ऐसी कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं कि अत्यधिक व्यवस्थित घर पति के लिए उबाऊ वातावरण पैदा कर देता है और वह अपने दोस्त के घर का अव्यवस्थित और अनौपचारिक माहौल अपने घर में चाहने लगता है।

वैसे अधिकतर घरों में पति घर में व्यवस्था के साथ-साथ बच्चों को भी साफ-सुथरा देखना चाहता है, अगर पत्नी फूहड़ हो तो वह घर को व्यवस्थित रखने के बजाए उसका सुंदर स्वरूप बिगाड़ देती है। कभी-कभी व्यवस्थित घर में भी कुछ अन्य छोटी-मोटी बातों पर ध्यान न देने से भद्दापन दिखाई पड़ने लगता है।

एक बार एक परिचित के यहाँ बड़े आग्रह से खाने पर बुलाया गया। कई तरह के स्वादिष्ट पकवान बने थे, पर पहला कौर उठाते ही थाली के किनारे पर लगी राख पर ध्यान चला गया। लिहाजा न कुछ कहते बना, न खाना खाते।

ऐसे ही एक बार एक रिश्तेदार के यहाँ खाना खाकर हाथ धोने वाशबेसिन पर गई तो बदबू के कारण सिर भिन्ना गया। कै आने को हो गई। विवशता में हाथ धोने के लिए जैसे-तैसे गुसलखाने में घुसी तो सर्र से पैर फिसल गया। पैर में मोच आ गई, किन्तु पैर में पहनी चप्पलों में जिस चिकनाहट और गन्दगी का एहसास हुआ, वह मोच के दर्द से अधिक मन को तकलीफ दे रहा था।

इसी तरह एक और परिचित महिला के घर की घटना है। वह कुछ ज्यादा ही मिलनसार और खुशमिजाज है। उनसे मिलकर या उनके घर जाकर बहुत अपनत्व का एहसास होता है। वह जब आग्रह और प्यार से कुछ देती है तो इनकार करते नहीं बनता, पर उनके यहाँ पानी पीने से हम सदा कतराते हैं। वह जैसे ही स्टील के गिलास में पानी लाती है, कुछ बेचैनी-सी होने लगती है। बेचैनी इसलिए नहीं होती कि पानी स्टील के गिलास में है, बल्कि उस गिलास की तली में काली-सी मैल की परत के कारण मन खराब हो जाता है। ऐसी स्थिति में किसी व्यक्ति का आग्रह और मेहमानी रास तो क्या आएगी, उलटे सजा ही लगती है।

हमेशा याद रखिए कि मेहमान पर आपका पहला और स्थायी प्रभाव आपकी सफाई का ही पड़ता है। दस तरह के पकवान बनाकर परोसने से कोई लाभ नहीं, यदि वे आपकी सुरूचि को नहीं उभारते। यदि परोसने में सुघड़ता की कमी है या आपका गुसलखाना, वाशबेसिन, बाल्टियाँ, नल, बर्तन, मग आदि गंदे हैं तो समझ लीजिए कि आपकी सारी मेहनत बेकार गई। इतनी मेहनत और पैसा खर्च करके बनाए पकवानों का कोई अर्थ नहीं रहा।

हमारी पड़ोसिन मीना बात-बात पर कहती है कि वह रसोई का काम एक घंटे में निबटा देती है। बस, फिर काम से मुक्ति और इस मुक्ति का उपयोग वह गाना सुनने और आराम से लेटकर उपन्यास पढ़ने से करती है। उसका कहना है कि उसकी सास को रसोई के काम निबटाने में पता नहीं इतनी देर क्यों लगती है। एक बार इन दोनों का ही काम देखने का मौका मिला। मीना जल्दी से सब्जी काटकर व आटा गूंथकर सब्जी पकने के लिए प्रेशर कुकर में रख देती है व फटाफट रोटियाँ सेंकने लगती है, पर सब्जी का छिलका, कचरा नीचे बिखरा रह जाता है, आटा पानी के साथ नाली में बहता दिखाई देता है, गैस पर तेल व घी की चिकनाहट रह जाती है और माचिस की जली तीलियाँ व दूध के खाली पैकेट यहाँ वहाँ बिखरे दिखाई देते हैं। यह देखकर बोले बिना नहीं रहा गया, "मीना, इस कदर बेपरवाही से तो तुम आधे घंटे में भी काम खत्म कर सकती हो।" उसकी सास थोड़ा ज्यादा समय जरूर लेती है, पर सारा काम स्वच्छता और सलीके के साथ करना पसंद करती है। यही ठीक भी है।

यदि एक बार स्वच्छता से रहने और काम करने की आदत पड़ जाए तो उस माहौल के बिना रहा ही नहीं जाता। ऐसा माहौल मन को कितना प्रसन्न रखता है, यह वही जान सकता है जो ऐसे माहौल में कभी रहा हो, इससे मन को उत्साह और प्रेरणा मिलती है।

सफाई सिर्फ बर्तन, क्राकरी, फर्श या मेज की ही नहीं होती, अपने आपकी भी होनी चाहिए। इस बात की ओर ध्यान दीजिए कि आपका शरीर और वस्त्र आदि साफ हैं या नहीं। यह भी देखिए कि खाना खाकर धुले हाथ पोंछने का तौलिया साफ है कि नहीं। खाने में तरह-तरह की चीजें बनाने के बजाए कुछ कम चीजें बनाई जा सकती हैं, किन्तु सफाई के बारे में लापरवाही बरतना बिलकुल ठीक नहीं है।

इस बात का ध्यान रखिए कि आप जब किसी को आग्रह करके खाने पर बुलाती हैं तो उस पर अनुग्रह नहीं करती। आज के व्यस्त जीवन में आपके यहाँ आने वाला मेहमान आपको कृतार्थ करता है इसलिए यदि आप सुरूचि और सफाई आदि पर गौर नहीं करेंगी तो यह आने वाले मेहमान के प्रति तो अन्याय होगा ही, स्वयं आपका सम्मान भी दूसरों की नजरों में घटाएगा।

●●●

दिल का दर्पण झूठ नहीं बोलता

किसी भी पत्रिका को खोले तो महिलाओं के लिए सौन्दर्य वृद्धि के उपाय के बारे में जानकारी अवश्य होती है। महिलाओं की पत्रिकाएँ, अपवाद छोड़ दे तो, अधिकतर इन्हीं सामग्री से भरी पड़ी रहती हैं। नारी के लिए सौंदर्य आवश्यक है। दोनों एक-दूसरे के पूरक भी कहलाये तो गलत न होगा। सौंदर्य साधनों के इतने अधिक विज्ञापन और सामग्री आती है कि युवतियाँ ही नहीं महिलाएँ भी दिग्भ्रमित हो जाती हैं। उच्च वर्ग की महिलाएँ तो इन सौंदर्य सामग्री पर खुले हाथ और खुले दिल से खर्च कर सकती हैं। खर्च किये हुए धन का मूल्य भी इनको अधिक मिलता है, क्योंकि एक तरफ तो ऊँचे मूल्य की ऊँची सामग्री ही लेती है, जिसका शरीर पर दुष्प्रभाव कम या नहीं पड़ता है। दूसरा इनको बाहरी वातावरण जैसे धूप, धूल या प्रदूषण का सामना भी नहीं करना पड़ता है। न ही घर के काम-काज में इनके हाथ-पाँव उतने खराब होते हैं, सो ब्यूटी पार्लर में व्यय किया धन इनका साथ अधिक देर तक देता है।

साधारण या निम्न वर्ग की महिलाएँ या युवतियाँ इस ओर एकदम झाँकती ही नहीं हों, ऐसा भी नहीं है, अपवाद यहाँ भी मिल जायेगा। असली परीक्षा तो मध्यवर्ग की महिलाओं और युवतियों के लिए है। नियमित रूप से कुछ रकम अगर इन ब्यूटी पार्लरों की भेंट चढ़ा दें तो घर का बजट बिगड़ जाता है। हर काम के लिए इनके पास समय भी बँधा हुआ रहता है। इसके कारण अतिरिक्त समय की खानापूर्ति करना मुश्किल हो जाता है या घर के अन्य सदस्यों को इसका खामियाजा भुगतना पड़ता है। ऐसे तनाव और परेशानी भरे माहौल में ऊपरी लीपा-पोती सौंदर्य वृद्धि में सहायक होगी भी? साथ हीं एक अहं प्रश्न उभरकर सामने आता है कि क्या शारीरिक सुंदरता को इतनी प्रमुखता दिया जाना ठीक है?

एक व्यक्ति जब खुशी और तनाव रहित वातावरण में साँस लेता है तो अपेक्षाकृत स्वस्थ और सुंदर दिखता है। तनाव भरे वातावरण में या हमेशा कमी महसूस कर दुःखी रहने से चेहरे पर स्वाभाविकतः एक मुर्दनी-सी छाई रहती है।

इसका साफ मतलब तो यही हुआ न कि हमें शारीरिक सौंदर्य की वृद्धि के साथ-साथ आंतरिक सौंदर्य की ओर ध्यान देना चाहिये, बल्कि, आंतरिक सौंदर्य पर तो ज्यादा ध्यान देने की जरूरत है, क्योंकि आंतरिक सौंदर्य की वृद्धि के साथ-साथ चेहरे की क्रांति प्राकृतिक रूप से बढ़ती है, जोकि स्थाई होती है। साथ ही बार-बार उसके लिए कुछ खर्च भी नहीं करना पड़ता है। वैसे कभी-कभी इन प्रसाधनों का उपयोग आवश्यक-सा हो जाता है जैसे—असमय कम उम्र में बाल पकने लगना या कोई दाग या धब्बा छुपाना आवश्यक हो जाता है। कभी-कभी दवाइयों के उपयोग से अथवा किसी हादसे में कुछ ऐसे प्रभाव पड़ जाते हैं, तब प्लास्टिक सर्जरी या आर्थोडेन्टीस्ट्री की सहायता लेनी पड़ती है। असल में प्रसाधनों का उपयोग इसी तरह होना भी चाहिये कि वास्तव में सौंदर्य की वृद्धि हो और कमियाँ छुप सकें।

एक युवक एक युवती से प्रेम करता था। उसने उससे शादी की भी। प्रथम कुछ रातों में तो उसकी प्रेयसी पत्नी मेकअप में रही। पर उसके बाद जिस रात उसने मेक-अप हटाना शुरू किया तो युवक अपनी पत्नी को देख चौंक गया। उसको आघात लगा कि वो जिस रूप को देखकर आकर्षित हुआ था उसका तो वहाँ नामोनिशान न था।

ऊपर की ये घटना कोई चुटकुला नहीं वरन् कटु सत्य है। क्या इन प्रसाधनों का यही महत्व है कि वो व्यक्ति का बाहरी सौंदर्य और धीरे-धीरे व्यक्तित्व ही बदल दे? इनके लगातार उपयोग से वैसे भी त्वचा की कोमलता और प्राकृतिक सुंदरता हमेशा के लिए खत्म हो जाती है। कई बार गृह कार्य या दूसरे आवश्यक कार्य को केवल इसलिए प्राथमिकता नहीं दे पाते कि ये प्रसाधन महत्वपूर्ण हो जाते हैं। इसका नियमित उपयोग करते रहने के बाद एक दिन भी बिना मेकअप या साज सँवार के बिना रहने पर चेहरा भद्दा दिखता है। मेकअप या साज सँवार ऐसी और इतनी ही होनी चाहिये कि आप अपने आप में स्वाभिमान महसूस करें और आपका आत्म-विश्वास बढ़े।

मानसिक सुंदरता को बढ़ाने की ओर हम अगर उतना ही ध्यान दें, जितना मेकअप और शारीरिक सुंदरता को बढ़ाने पर देते हैं, तो जीवन, आसपास और समाज में ज्यादा सुख-शांति आयेगी, इसमें कोई शक नहीं। हँसमुख होने, व्यवहार कुशल होने और घर के दूसरे सदस्यों के दुःख-दर्द में सक्रिय हिस्सा बांटने के लिए मानसिक स्वस्थता और सुंदरता ज्यादा जरूरी है।

एक और बात जिस पर ध्यान देना जरूरी है, यहाँ से वहाँ तक सभी नुची

भौंहों और समान मेकअप के कारण सौंदर्य में एकरसता ला रहे हैं। जीवन के किसी भी क्षेत्र में विविधता का अभाव हो तो जीने का आधा मजा खत्म हो जाता है। एक चीनी कहावत भी है कि 'यदि बागीचे के सारे फूल एक रंग, एक खुशबू और एक आकार के हों तो ये जग कितना नीरस हो जाये' अब तो युवकों को ये कहते सुना गया है कि नुची भौंहे और नकली खींचे होंठों के बजाय वे प्राकृतिक रूप से सुन्दर व हँसमुख और घर-परिवार को प्राथमिकता देने वाली लड़की को पत्नी रूप में चाहेंगे।

शारीरिक सुंदरता को बढ़ाने के लिए चेहरे की मालिश, उबटन से साफ-सफाई आदि घर पर ही कर सकते हैं इसमें भी अँगुलियों व हाथों को शारीरिक श्रम करना पड़ता है। सही तरीके से शारीरिक श्रम और संतुलित आहार शरीर को स्थायी और सही सुंदरता प्रदान करते हैं। उसके बाद शरीर पर फबने वाले सही वस्त्र व वस्त्रों के रंगों का चुनाव और हल्का-सा मेकअप करें, तो कोई भी सुंदर लग सकता है। सुंदरता के लिए सुघड़ता एक अनिवार्य शर्त है। आप फूहड़ हों तो कितना भी मेकअप कर लें या सज-धज लें, सुंदर नहीं लग सकतीं।

इसी प्रकार अपनी मानसिक शक्ति को भी ज्ञान से बढ़ाते जायें, तो व्यक्तित्व भी सुंदर और गहरा होता जायेगा। शारीरिक और मानसिक दोनों, सेहत जब स्वस्थ होगी तो काफी हद तक इन्सान बिना किसी ऊपरी टीम-टाम के सुंदर लगता है।

पाश्चात्य देशों में जहाँ मेकअप और सौंदर्य प्रसाधनों का प्रचलन सामान्य था, अब लोग योग और साधना की ओर झुक रहे हैं। योग से शरीर सुड़ौल होता है और मन भी स्वस्थ होता है। सुड़ौल शरीर सुंदरता की पहली निशानी है और स्वस्थ मन में स्वस्थ और अच्छे विचार पनपते हैं। इन विचारों की झलक चेहरे पर भी होगी, क्योंकि चेहरा दिल का दर्पण है। औरतें दर्पण में पच्चीसों बार खुद को देखती हैं, उससे सुंदरता में बढ़ोतरी नहीं हो सकती है। हाँ सिर का कोई सफेद बाल, चेहरे की झुरियाँ या निकलता पेट देख माथे पर चिन्ता की एक-दो रेखा और खिंच जाती है। पर दिल का दर्पण कभी झूठ नहीं बोलता, यह दिल के भले विचारों को उसी तरह चेहरे पर प्रतिबंधित कर देता है, तो क्यों न हम दिल के दर्पण पर अधिक एतबार करें दिल का दर्पण आपके विश्वास को तोड़ेगा नहीं।

●●●

परिवार में त्यौहार की मिठास

प्रतिवर्ष की तरह कंचन ने द्वादश से मिठाई बनाने का कार्य प्रारम्भ किया। बाद में तो घर सजाने, माँडने बनाने, वंदनवार बांधते समय कैसे गुजर जाता है पता ही नहीं चलता। गुलाबजामुन की चाशनी तैयार करते हुए सहसा उसका मन उदास हो गया। सासू माँ को कंचन के हाथ के बने नरम-नरम गुलाबजामुन कितने पसंद हैं। खाकर कंचन को जब ढेरों आशीर्वाद मिलता तो मन कितना प्रसन्न हो जाता था। इस वर्ष उसे माँडने बनाने में भी कोई आनंद या उत्साह नहीं रहा। कंचन के माँडनों की प्रशंसा करने वाले उसके ससुरजी जो यहाँ नहीं हैं। सास-ससुर दोनों जब बड़े भैया के यहाँ जा रहे थे तो कंचन फूली नहीं समा रही थी। उसे लगा कि कुछ दिन उसे आजादी मिलेगी, अपनी मर्जी से रहेगी, काम करेगी, जी भरकर आराम करेगी। बस वो, उसका पति और चार वर्षीय पुत्र, सोच-सोचकर ही खुश हुई जा रही थी। पर चार-छह दिन में ही अपने विचार के खोखलेपन को समझ गई। फिर दीपावली जैसे उत्सव पर तो उसे घर का खालीपन काटने को दौड़ रहा था।

वृद्धाश्रम में पड़े हुए कौशलजी की सूनी आँखों में कभी-कभी एक हल्की-सी चमक दिख जाती है। शायद बेटा दीपोत्सव के त्योहार पर उन्हें घर ले जाए। आश्रम में अपनी तरह के दूसरे लोगों का साथ, उनके बीच रहना वैसे उतना नहीं अखरता जितना त्यौहार के समय। ऐसे अवसर पर परिवार की गहमागहमी, रिश्तों की आंच व सदस्यों की याद मन में कसक पैदा करती है। दिल निचुड़े हुई मौसंबी या नींबू की तरह हो जाता है और आँखें खारे पानी की झील बनी रहती है।

आदिकाल से इन्सान ईंट-गारे या सीमेंट-कांक्रीट का मकान बनाकर रह रहा है, तभी से परिवार रूपी नाजुक रिश्तों का ताना-बाना अपने आप, प्राकृतिक रूप से बुनता चला गया। ये धागे तंतु इतने महीन हैं कि सहसा दिखाई भी नहीं देते। परिवार में सदस्यों के बीच ऐसा ही महीन जाल है, जो उन्हें जोड़कर एक साथ रखता है। खानाबदोश या बंजारे भी तो अपने-अपने दल के साथ जहाँ डेरा डालते

हैं, वहीं उत्सव मनाते हैं। राग-रंग, खाना-पीना भला अकेले में क्या मजा देगा। इन रिश्तों का असली मजा तो त्यौहारों में ही आता है। पहले जब संयुक्त परिवार का चलन था तो इन त्यौहारों का रूप भी अलग होता था। बड़े-बुजुर्गों से आशीर्वाद लेना, समानवय के लोगों से गले मिलना और छोटों को स्नेहाशीष देते हुए रक्षा करने का आश्वासन देना। ये सारे क्रियाकलाप जिन्हें विशेष रूप से सीखने की आवश्यकता नहीं होती, वरन् सारे सदस्य परिवार में रच-बसकर व्यवहार करना सीख जाते हैं।

एकल परिवार में रहना मर्जी से भी होता है और मजबूरी से भी, पर जहाँ त्यौहार का आगमन होने वाला होता है, ये सारे लोग परिवार के साथ मनाने के लिए चल पड़ते हैं या अपने घर बंधु-बांधवों को आमंत्रित करते हैं। ऐसे मौकों पर ट्रेनों और बसों में जो ठसाठस भीड़ भरी हुई रहती है, वो इस बात का जीता-जागता प्रमाण है। हमारे देश की तो खासियत ही है कि परिवार के सदस्यों के बीच भले ही होई मनमुटाव हो जाए पर त्यौहार पर उसे भुलाकर साथ में खुशी मनाई जाती है। कहा भी जाता है कि आप रोओगे तो अकेले ही, कोई आपके साथ नहीं रोएगा, पर जहाँ आप हँसने लगते हैं तो दुनिया साथ हंसती है। जिसके लिए परिवार एक महत्वपूर्ण इकाई हो वो उसकी छोटी-सी दुनिया ही तो है।

परिवार शब्द में एक अदृश्य मिठास घुली हुई है, जो भले ही दिखाई दे या न दे, पर अहसास करा देती है। बच्चे परिवार में रहकर चाचा-ताऊ, दादा-नाना, मामा-बुआ और दूसरे सारे रिश्तों की जानकारी पाते हैं वरना तो विदेशी तर्ज पर श्रीमान फलां और श्रीमती अला से ही पहचान होती। शहर में अंकल-आंटी वाले खोखले रिश्ते में वो मिठास कहाँ होती है, जो परिवार के चाचा-चाची या दादा-दादी में होती है। पर यह तस्वीर का एक रंग या एक ही पहलू है।

वर्तमान परिस्थितियों में प्रगतिशील जीवन की माँग के अनुरूप इंसान को जीवन के दूसरे रंग को भी स्वीकार करना पड़ता है। मसलन, अपनी कर्मभूमि के कर्त्तव्यों को पूरा करते-करते उसे घर से दूर, देश से दूर एक घर बसाना पड़ता है। वहाँ उसके रक्त संबंधी साथ हों, यह जरूरी भी नहीं है और सम्भव भी नहीं है, पर मानव सामाजिक प्राणी होने के नाते आसपास के लोगों के साथ तारतम्य बना लेता है। यह एक तरह से घर से दूर एक परिवार है, जिसमें मित्र, पड़ोसी, सहकर्मी और समान विचार वाले शामिल होते हैं। ये संबंध कई बार रक्त संबंधों की अपेक्षा अधिक आनंद दे जाते हैं। शायद निःस्वार्थ स्नेह के बंधन में स्वेच्छा से बंधने के कारण एक आंतरिक खुशी दे जाते हैं। चाहे प्राकृतिक संबंधों वाले

मीठे रिश्तों की डोर में बंधे परिवार हो या साथ-साथ काम करने, मिलने-जुलने से पैदा हुआ पारिवारिक माहौल हो। यह निर्विवाद सत्य है कि त्योहार परिवार के साथ मनाने से दोगुनी खुशी मिलती है। परिवार की अहमियत, पारिवारिक माहौल, मिल-जुलकर काम करना, मिल-जुलकर खाना-पीना, गाना-बजाना यानी उत्सव वाला माहौल एक परिवार में ही पैदा होता है। कोई इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि पारिवारिक रिश्तों की मिठास मिठाइयों की मिठास से अधिक होती है।

●●●

तुम्हारी बेटी राज करेगी

मीरा और उसके पति एक लम्बी यात्रा से लौटकर मेरे घर आये थे। लौटते समय वे अपनी कुछ समय पहले ब्याही गई बेटी की ससुराल भी होकर आये थे। दोनों पति-पत्नी यात्रा की सरस बातें कम, बेटी के धनी ससुराल वालों की बातें अधिक कर रहे थे।

''क्या बताएं दीदी, हमारी मंजू को तो स्वर्ग मिल गया। इतना अच्छा घर, इतने अच्छे लोग.... बस, मौज कर रही है बेटी।''

पत्नी की बात खत्म होते-होते पति महोदय शुरू हो गए, ''सच भाभी जी, ससुराल में मंजू तो राज कर रही है न कोई कामधाम, न रोकटोक, हर काम के लिए नौकर हाजिर। मैंने जरूर कुछ अच्छे कर्म किए हैं जो बेटी को ऐसा घर मिला।''

मीरा को कभी इतना खुश नहीं देखा था। तब भी नहीं जब उनकी बेटी एम.एस.सी. में प्रथम आई थी। अक्सर अपनी बेटियों को ससुराल में कष्ट पाने का हवाला उनकी माँओं से सुन-सुनकर पके कानों को इस खबर से जरूर कुछ राहत मिली थी। पर न जाने क्यों मुझे लग रहा था कि मंजू के माता-पिता की सोच में कहीं गलती है।

अधिकांश माता-पिता जब बेटी के लिए घर वर देखते हैं तो बेटी की खुशी को उस घर के संभावित काम से तौलते हैं।

''क्या बताएं, बेटी को तड़के उठकर काम पर लग जाना पड़ता है। यहाँ तो वह सुबह आठ बजे से पहले उठती ही नहीं थी।''

कोई कहता है, ''बिटिया बहुत तकलीफ में है।''

''क्यों, क्या कष्ट है?'' पूछो तो जवाब मिलेगा, ''बहुत काम करना पड़ता है।'' अब सवाल उठता है कि खुश होने और रहने का पैमाना क्या तड़के उठने या न उठने पर अथवा फुर्ती से काम करने या बेकार बैठे रहने से नापा जा सकता है? बेटी को बिना कुछ किए खाली बैठे रहकर या सोकर ससुराल में राज करना

चाहिए अथवा घरेलू कार्यों में सक्रिय रहकर सबके दिलों पर राज करना चाहिए?

आज के समय में यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न होता जा रहा है। यह सिर्फ मंजू के माता-पिता का ही नहीं बल्कि अधिकांश माता-पिता का कहना है। कुछ माताएं तो आँखों में आँसू भरकर कहती हैं, ''बिटिया को तो ससुराल में बहुत काम करना पड़ता है।''

जब बेटी के लिए एक माँ घर परिवार का सुखी सपना देखती है तो जिम्मेदारी और काम को कैसे नकार सकती है। आप घर में बहू लाती हैं तो यही आशा करती हैं कि बहू आपका हाथ बंटाएगी या बेटे का घर संभालेगी, वही आपकी बेटी अपने ससुराल में करेगी। लिहाजा, हमें अपनी मानसिकता में, सोच में बदलाव लाने की जरूरत है।

एक तमिल कहावत का अर्थ है, काम करके कोई मरता नहीं है बल्कि स्वास्थ्य ही बनता है। हाँ, कभी-कभी क्षमता से बहुत अधिक काम करना पड़ जाए तो बात अलग है, जैसा कि भारतीय फिल्मों में बहू की प्रताड़ना स्वरूप दिखाया जाता है।

शादी के लगभग चार महीने बाद मंजू ससुराल से मायके आई। देखा तो कुछ सुस्त और काफी मोटी हो गई थी पहले तो मुझे लगा कि मंजू गर्भवती है। पर गर्भवती होने की जो खुशी लड़की और उसकी माँ के चेहरों पर होती है वह उन दोनों माँ-बेटी के चेहरे पर कहीं नहीं थी।

मंजू की माँ कुछ काम से अंदर गई तो वह जल्दी से बोली, ''आंटी, मम्मी-पापा मेरी समस्या समझ नहीं पा रहे हैं। मैं बीमार नहीं हूँ, बस कुछ रचनात्मक काम करने के लिए तड़प रही हूँ। मुझे लगता है कि मैं अपनी समस्या आपको खुलकर समझा सकती हूँ।''

एक दिन मौका देखकर मंजू कोई बहाना कर मेरे पास आई। उसे देखकर मुझे लगा कि वह काफी आराम महसूस कर रही है। कुछ ठहरकर वह बोली, ''आंटी, ससुराल में जो माहौल है उसमें नौकरी करना या बाहर जाकर कुछ करना उनके लिए हेठी है। बस, गहने लो, साड़ी लो और उन महंगे साजोसामान को पहनकर घर के बुजुर्गों के पैर छुओ।

''जिंदगी में बदलाव के नाम पर यह होता कि पूरी पल्टन पिकनिक पर जा रही है या मंदिर। घर पर भी वही चेहरे बाहर भी वही चेहरे। जीवन को इतने छोटे से दायरे में बांधकर कोई प्राकृतिक रूप से खुश कैसे रह सकता है? कम

से कम मैं तो नहीं। इतनी बोर हो जाती हूँ कि डर लगने लगता है कि कहीं डिप्रेशन में न चली जाऊँ।''

''मंजू, तुम्हारी कोई हॉबी तो होगी, उससे समय को काटने की कोशिश कर सकती हो,'' मुझे जो सूझा बता दिया।

''कर के देखा और जार-जार रोना पड़ा, आंटी, पेंटिंग के ब्रश और रंगों को ले-लेकर बच्चे अपने कमरों में दौड़ गए और बड़े उनकी इस हरकत पर हंसने लगे। जरा-सा कुछ सोचने बैठो तो सारे हमदर्द 'मायके की याद आ रही है' कहकर इस कदर पीछे पड़ जाते हैं कि ध्यान केन्द्रित ही नहीं होने देते।'

इच्छा हुई कि मीरा से कहूं कि 'देखा, तुम्हारी बेटी कैसा राज कर रही है। चेहरे की रौनक गायब, आँखों की चमक नदारद और सुडौल काया को तराशे रखने के लिए साधारण दैनिक कामों का भी अभाव है। हां, अगर बेटी इन सबके बाद भी खुश हो तो ठीक है। जैसा कि कुछ लड़कियां महसूस करती हैं वैसे आजकल की अधिकांश पढ़ी-लिखी लड़कियाँ कर्मठ जीवन, सार्थक जीवन और सकारात्मक सोच वाली जिंदगी ही चाहती हैं। नौकरी करना या पैसा कमाना अपने व्यक्तित्व व पहचान को कायम करने के लिए भी होता है।

अब लड़की के लिए दामाद ढूंढ़ते समय पैसा और खानदान से भी अधिक माने रखता है उस घर के लोगों की मानसिकता व सोचने का नजरिया। यदि वह वहाँ है तो आपकी बेटी को बहू के रूप में खुला वातावरण मिलेगा, जो निश्चित रूप से धन संपत्ति से अधिक स्वागत योग्य होगा। आपकी बेटी को अपनी तरह सोचने व समझने का मौका मिलेगा और उसके पक्ष को ध्यान से सुनने वाले भी मिलेंगे।

माता-पिता को समझना होगा कि वास्तविक आनंद क्या है। ऐसे माता-पिता जो अपनी बेटी का ही मन नहीं समझ पाते, दूसरे परिवार से आई अपनी बहू का मन क्या समझेंगे। अब वे दिन आ गए हैं कि बहू या दामाद के विचार, ब्लड ग्रुप का मैच, बात व्यवहार के अलावा मानसिकता आदि की भी खास खबर ली जाए। तब बेटी खुशी-खुशी विदा होकर ससुराल में भी प्रसन्न रहेगी।

●●●

महिला एक अच्छी शिक्षिका

एक समय था जब महिला के लिए घर के बाहर केवल विद्यालय में शिक्षिका का कार्य ही उचित माना जाता था। शिक्षण कार्य सम्मानजनक तो माना ही जाता था, महिलाओं के अनुकूल भी माना जाता था। अधिकतर प्राथमिक विद्यालय में शिक्षण कार्य और बहुत हुआ तो थोड़ा-बहुत (मिडिल) माध्यमिक शिक्षण में। वर्तमान में तो महिलाएँ हर क्षेत्र में आ गयी हैं, कितने ही नये द्वार उनके लिये खुल गये हैं, जहाँ अपनी काबिलियत का सिक्का जमा रही हैं। शिक्षण के क्षेत्र में भी महाविद्यालय और यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर और वैज्ञानिक हर स्थान पर मौजूद हैं।

शिक्षण के बाद दूसरा क्षेत्र, जो महिला के लिए सम्मानजक और उचित माना जाता था, वह चिकित्सा का क्षेत्र। लज्जाशील महिलाओं को प्रसव व अन्य कई इलाज में पुरुष चिकित्सकों से परामर्श और जाँच करानी पड़ती थी। दाई प्रसव करवाया करती थी, पर जब अधिक पेचीदा केस हो तो वो भी मदद नहीं कर पाती थी सो लेडी डॉक्टर नारी के लिए वरदान की तरह थी।

पुरुषों को ये बात भली और सुविधाजनक लगी। सो महिलाओं का चिकित्सा के क्षेत्र में आने का अधिक विरोध नहीं हुआ, पर धीरे-धीरे इसके समकक्ष दूसरे क्षेत्रों में भी महिला का प्रवेश सम्भव होता गया, बल्कि महिलाओं को शिक्षण कार्य के बजाय दूसरे कार्यों और क्षेत्रों ने अधिक लुभाया। वर्तमान में हालात ये हैं कि महिलाएँ मजबूरी में शिक्षण कार्य में आती हैं। अधिकतम महिलाएँ दूसरे क्षेत्रों में प्रवेश की गुंजाइश न होने पर शिक्षिका बन जाती हैं। खासकर स्कूली शिक्षा में।

स्कूली शिक्षा में महिलाएँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक अच्छी साबित हो सकती है और होती भी हैं। महिलाएँ संवेदनशील, धैर्यवान होने के साथ मनोवैज्ञानिक भी होती हैं। खासकर बाल-मनोविज्ञान को पुरुषों की अपेक्षा अधिक अच्छे से समझती हैं। वैसे भी किसी भी बच्चे के लिए घर प्रथम पाठशाला होता है और माँ प्रथम गुरु। बच्चा माँ से और माँ के साथ जितना सीखता है, उतना शायद किसी और के साथ नहीं। शिशु के प्रारम्भ के पाँच वर्ष बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। शारीरिक

और मानसिक दोनों ही स्वास्थ्य के लिए। इसीलिए माँ का शिक्षित होना और भी आवश्यक है। लड़का जब शिक्षित होता है, तो एक व्यक्ति शिक्षित होता है, पर लड़की के शिक्षित होने पर एक पूरा परिवार शिक्षित होता है। शिक्षित माँ एक अच्छी शिक्षिका साबित हो सकती है।

बाल-मन की गहराइयों को समझने के लिए संवदेना और समझदारी का एक ऐसा मेल चाहिये, जो धैर्य की माँग करता है। हालाँकि आजकल की महिलाएँ धीरज खोती जा रही हैं, फिर भी पुरुषों की अपेक्षा वो बच्चों के साथ अधिक निकटता कायम कर सकती हैं। हमारे खोते जा रहे संस्कार और अनैतिकता ने समाज में जो एक कुत्सित वातावरण पैदा किया है, वो काफी हद तक पिछले दो दशकों में महिलाओं द्वारा परिवार और बच्चों की ओर पर्याप्त ध्यान न देने के कारण है। बचपन व किशोरावस्था में जो बच्चे उपेक्षित हुए हैं, वे जवानी में आकर उत्पात की ओर प्रवृत्त हों या गलत राह पर जायें, इसमें आश्चर्य करने लायक क्या है? नीम बोकर आम मिलने से तो रहा।

अगर प्राथमिक बल्कि माध्यमिक स्तर तक केवल महिला शिक्षिकाएँ ही स्कूल में पढ़ायें तो देश की संस्कृति और नैतिक मूल्यों को बचाने में काफी हद तक सफल हो सकते हैं आने वाली पीढ़ी को सुसंस्कृत, अच्छा नागरिक, अच्छा इन्सान बनाना है तो नयी पौध की कलम मजबूत और अच्छे से अच्छा पनपने वाला हो, ये ध्यान रखना पड़ेगा। महिला शिक्षिकाएँ किताबी ज्ञान या कोर्स की पढ़ाई इस तरह करवा सकती हैं कि बच्चे धीरे-धीरे अच्छे 'संस्कार धरातल' के आदी हो जायें, जब धरातल और अवलम्ब दोनों सुदृढ़ हों तो ऐसे बच्चों की किशोरावस्था और जवानी का प्रतिफल एक चरित्रवान और गुणवान वयस्क के रूप में होता/होती है।

यही वयस्क नागरिक समाज और देश का चेहरा और भविष्य दोनों बदल सकते हैं।

●●●

बलात्कार एक भयंकर सामाजिक बुराई

बलात्कार और बलात्कार अखबारों, पत्रिकाओं के पन्ने इनकी खबरों से रंगे आ रहे हैं। नवयुवक, अधेड़, वृद्ध, किशोर, अमीर, गरीब, मध्यमवर्ग हर तबके में से कोई न कोई पुरुष इसमें लिप्त है उसी तरह बलात्कार की शिकार मासूम चार वर्षीय बच्ची से लेकर वृद्धा तक है। यही एक जगह है जहाँ न रंगभेद है न जातिभेद न उम्र का न रिश्ते का बँधना। यह एक बढ़ती हुई सामाजिक समस्या है।

प्राचीनकाल में अवैध संबंध न होते थे, ऐसा तो नहीं है। शकुंतला और दुष्यंत ने गंधर्व-विवाह की आड़ में ऐसे संबंध स्थापित किये। इन्द्र ने छल से अहिल्या के साथ जो संबंध बनाए वो बलात्कार से कम नहीं माना जा सकता है। बौद्ध जैन धर्म के प्रचार के बाद वर्जनाएँ ही वर्जनाएँ हो गई थी। ऐसी घटनाएँ मात्रा में भी कम हो गई थीं और इतनी कुत्सित भी नहीं थी।

मध्ययुग में आते-आते मुगलों से बचने व इज्जत बचाने को युवतियाँ व स्त्रियाँ अनेक उपाय करती थीं और जान भी दे देती थीं। पर दोस्त या अपने कहे जाने वालों ने भी कभी ऐसा कुत्सित आचरण नहीं किया।

फिर वर्तमान में वे क्या नए कारण उपस्थित हो गए कि पुरुषों का आचरण इस तरह गिरकर नए कीर्तिमान स्थापित करने की होड़ में है। रिश्ते-नाते, मान-मर्यादा, उम्र-इज्जत सबको भूलकर या इन सबकी परवाह न करके इस कुत्सित आचरण पर उतर आता है।

इसके बहुत से कारण हो सकते हैं पर दो मुख्य कारण एकदम दिमाग में कौंधते हैं। एक तो माँ-बाप, बेटा-बेटी में असमानता का व्यवहार करते हैं। बेटे को इतनी छूट कि उसके सौ खून माफ और बेटी को पौष्टिक भोजन, दूध और अन्य आवश्यकताओं पर भी पाबंदी। बेटे के मन में बचपन से यह संस्कार घर कर जाते हैं कि वो सिर्फ हुकूमत के लिए बने हैं। पहले बहन पर फिर बीबी पर और जो हुकूमत करने के लिए पैदा हुआ है वो तो ऐश करने का हक भी रखता है। कई माताओं के मुँह से सुना जा सकता है—'लड़का है तो चार जगह

मुँह मारेगा, एक ही खूँटे बँधा थोड़ी रहेगा।' उन चार जगहों में किसी न किसी की बेटी रहेगी ही। जहाँ लड़कों के लिए नैतिकता के ऐसे मापदंड हो वहाँ क्या उम्मीद की जा सकती है?

दूसरा प्रमुख कारण पुरुष की कुंठा हो सकती है। पिछले कुछ ही अर्से में महिलाओं ने जबर्दस्त तरक्की की है। हर क्षेत्र में वो पुरुषों से बीस ही साबित हो रही है। महिलाओं को महिला प्रतिद्वंद्वी के अलावा पुरुष प्रतिद्वंद्वी से भी मुकाबला करना था। हो सकता है पुरुष का पारम्पारिक दिमाग महिलाओं की इस उन्नति को स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पा रहा हो। महिलाओं की इस सफलता को कई लोग दर्प समझते हैं। महिलाओं के इसी दर्प को तोड़ने का पुरुष के पास एक ऐसा हथियार है जिससे वो शारीरिक और मानसिक दोनों रूपों में टूट जाये।

दूरदर्शन व अखबार में परिवार नियोजन के भद्दे विज्ञापन देख-देख कर अपरिपक्व दिमाग में सेक्स के प्रति जानकारी प्राप्त करने की इच्छा बलवती होती जाती है, बाकी सिनेमा और वीडियो से अधकचरी और अकल्पनीय जानकारी मिलकर किस प्रकार वातावरण तैयार कर सकते हैं, इसका अंदाज लगाना कठिन तो नहीं है।

वे दैनिक पत्र जिनका एक पृष्ठ फिल्मी विज्ञापनों और उसके अश्लील चित्रों से तो भरे रहते ही हैं साथ में जो टिप्पणी रहती है वो तो अश्लीलता की सीमा को लांघ जाती हैं उस पृष्ठ पर अनायास नजर पड़ जाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है।

हमारी गलतफहमियाँ, धर्म, अंधविश्वास, परम्परा आदि सबकुछ इस तरह गूँथे हुए हैं कि इनका अलग-अलग कर देखना सबके बस की बात नहीं। जो लड़की पूजा-पाठ में रुचि ले, आरती गाए, साड़ी पहने वो अच्छी लड़की मानी जाएगी। जो स्लीवलेस और शोख कपड़े पहने तो उसके चरित्र प्रमाण-पत्र को खराब करार देने में कोई झिझक नहीं होती। हमें अश्लीलता का विरोध करना चाहिए जो हम सही परिपेक्ष्य में नहीं कर पाते। पर नवीनता का विरोध करने में हमें जरा भी देर नहीं लगती, भले ही नवीनता के कुछ लाभ हों और वो भली हों। चरित्र-निर्माण में धर्म की कुछ भूमिका हो सकती है, पर उससे ज्यादा महत्वपूर्ण है नैतिकता और सदाचरण। चाहे लड़का हो या लड़की दोनों के चरित्र को नापने का आधार स्तंभ व मापक एक होना चाहिए। हर शहर चाहे छोटा हो या बड़ा, हर चौराहे, हर मोड़, हर चाय-पान की दुकान पर, कॉफी हाउस में लड़कों के झुंड

के झुंड क्या करते हैं? सिवाय समय का दुरूपयोग और बेमतलब का हँसी-ठट्ठा करने को उनको कोई टोक नहीं सकता, क्योंकि वे लड़के हैं। इस प्रकार के अलगाववादी दृष्टिकोण से नींव खोखली ही होगी।

घर पर माँ-बाप और स्कूल में शिक्षकगण बच्चों में नैतिकता, सहास वाली बात पैदा कर नहीं पाते क्योंकि उनमें खुद वो साहस नहीं है। उनमें वो आत्म-विश्वास भी नहीं है।

बलात्कार की घटनाओं के बढ़ने का एक महत्वपूर्ण कारण इन घटनाओं की अत्यधिक चर्चा भी है। जहाँ नाते, रिश्ते, उम्र का लिहाज होता था, इन चर्चाओं को पढ़कर 'अरे ऐसा भी कर सकते हैं' और 'क्यों न आजमाया जाए' वाली मनोवृत्ति आ सकती है।

इन घटनाओं पर जब केस चलते हैं तब लड़की से जब प्रश्न पूछे जाते हैं, तो उसका 'मजा' लेने के लिए एक भीड़ भरा पुरुष वर्ग होता है। इन केसों को अगर बंद कमरे में सुना जाए तो लड़की सहज होकर बोल सकती है। साथ ही उसका मानसिक रूप से टूटना सारे समाज के समक्ष प्रदर्शन बनकर नहीं रहेगा। वैसे भी उनका कोई हक ही नहीं बनता इन सबको सुनने का, जबकि इसी भीड़ के सामने चाकू की नोक पर लड़की को जबरन उठा लिया जाता है।

इन कुत्सित घटनाओं को रोकने के लिए बहुत कुछ करना है। हम फिल्मों में तो इन घटनाओं को देखकर द्रवीभूत होते हैं, ढेर आँसू बहाते हैं और पीछे से बजता संगीत भी हमें रुलाने वाला लगता है। पर बस! उसके बाद क्या याद रह जाता है?

यदि हम अब भी सचेत न हुए और गंभीर रूप से पुरुषों में फैल रही इस मानसिक बीमारी का इलाज न ढूंढेंगे तो हो सकता है बालिकाओं में भोलापन और भ्रातृभाव की भावना ही खत्म हो जाए। हो सकता है आने वाली पीढ़ी पंगु और मानसिक रूप से विक्षिप्त भी हो।

इसके लिए सजा कठोर कर देनी चाहिए। इस सजा को देखकर दूसरा भी सचेत हो जाएगा। लड़कियों को आत्म-रक्षार्थ कुछ सहज उपाय हर स्कूल में बताए जाने चाहिए। स्कूलों में सिर्फ किताबों का बोझ बढ़ाने के बजाए उनके चरित्र निर्माण, नीति शिक्षा, खेल-कूद, व्यायाम आदि पर ध्यान देना चाहिए। घर में भी माँ-बाप को दृढ़-चरित्र का होना व इस आशय से बच्चों पर ध्यान देना चाहिए कि चाहे वो लड़का हो या लड़की उसे समान समझा जाए। लड़के पर तो अधिक ध्यान दें क्योंकि वह दूसरी जिन्दगी के साथ भी खिलवाड़ करता है। लड़कों व

पुरुषों को यह अहसास दिलाना चाहिए कि इस तरह का कुत्सित आचरण से शिकार का चरित्र नहीं वरन् शिकारी का चरित्रहीन प्रमाणित होता है।

जो अपराधी हैं वो बेफिक्री से रहें, घूमें और जो पीड़ित है उसे बार-बार यह अहसास दिलाया जाए कि उसके साथ जो अनहोनी हुई है उससे वो सबकी नजरों में गिर गई है। चूँकि उसकी कोई गलती नहीं इसलिए उससे सामान्य व्यवहार करना चाहिए। अधिक सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार भी खीज ही उत्पन्न करता है।

सेक्स की भावना खूबसूरत और प्रकृतिदत्त है, जिसे गलत अवधारणाओं और गलत तरीके से इस्तेमाल कर कुत्सित किया जा रहा है। इस दूषित चक्र में ऐसा भी समय आ सकता है कि कोई किसी पर विश्वास ही नहीं करेगा और इस तरह विवाह की संस्था को जोरदार धक्का लग सकता है।

नारी को देवी, दयामयी, करुणा की मूर्ति आदि कहने के दिन गए। इस तरह बहलाकर और वसुंधरा की तरह सहन-शक्ति वाली बताकर उसका शोषण अब नहीं हो सकता। पुरुष अपने पुरुषत्व का प्रदर्शन खूबसूरत और सही तरीके और सही परिपेक्ष्य में करें। उसे एक दोयम दर्जे का इंसान नहीं वरन् अपने समकक्ष एक समान इंसान का दर्जा देने का साहस करें। वैसे तो यह दर्जा स्त्री संघर्ष करके ले ही लेगी पर यदि पुरुष पहल करता है तो उसके पुरुषत्व के सही उपयोग का पहला कदम होगा। तब यह कुत्सित बुराई भी लोप हो जाएगी।

●●●

आस्था कभी तिरोहित नहीं होती

'थककर हारने वालों की कभी जीत नहीं होती।'

काल अखण्ड हैं। इस चिरन्तन यात्रा में अपना भाग बहुत ही अल्प है। यह जिसने जान लिया उसने बहुत कुछ जान लिया।

श्री बसंत साहू ने दोनों ही कथनों को समझ लिया है। वरना छत्तीस वर्षीय बसंत तेरह-चौदह वर्षों से जिस शारीरिक अक्षमता के साथ और परेशानियों में जी रहे हैं वह सम्भव ही नहीं हो पाता।

रायपुर (छत्तीसगढ़) के पास कुरूद गांव है। यहाँ के एक कृषक हैं श्री श्याम साहू। इन्हीं के बेटे है बसंत। बसंत ने दसवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। काम करते हुए पढ़ाई जारी रखना चाह रहे थे। मोटर बाइंडिंग का कार्य करने लगे। प्रतिदिन बाइक पर कुरूद से भाटांगांव जाते-आते। शुक्रवार 15 सितम्बर, 1995 का दिन उनके लिये दुर्भाग्यपूर्ण रहा। भाटांगांव से कुरूद लौटते में पीछे से आ रहे ट्रक ने जबरदस्त टक्कर दी। रीढ़ की हड्डी में गंभीर चोट लगी। डॉक्टर ने उनके जीवन को 24 घंटे की मोहलत दी थी। छत्तीसगढ़ दूरदर्शन द्वारा लिये साक्षात्कार में बसंत एक तपस्वी की तरह कहते हैं—'मैंने जान लिया था कि मौत क्या है? वो तो यहाँ तक बोले कि उनका मौत से साक्षात्कार हुआ था, जहाँ शांति थी, चैन था।'

इस गंभीर चोट से गर्दन के नीचे का पूरा शरीर संज्ञाहीन हो गया। उस समय से कहाँ पता था कि ये हालात जीवनभर की नियति हो जायेगा। उनकी दुनिया व्हील चेयर व पलंग तक सिमट गई। बसंत की माँ अपने हृदय पर पत्थर रखकर डबडबाई आँखों से जवान बेटे की सेवा एक शिशु की सेवा की तरह करने लगी। घर के अन्य सदस्य भी मदद करने लगे। उनके दोस्तों ने भी मदद की और कर रहे हैं। ऐसे हादसों से इंसान की दुनिया उलट-पुलट हो जाती है, अमूमन अवसाद घिर आता है। थक हारकर भाग्य और भगवान को कोसता है। हादसे के बाद बसंत को दो वर्ष तक बिस्तर पर औंधे मुंह लेटे ही बिताना पड़ा।

पर बसंत जैसे जीजिविषा वाले साहसी लोगों की आस्था कभी तिरोहित नहीं होती। ऐसे आशावादी लोगों के साथ ही चमत्कार सा भी होता है। बसंत को सौ प्रतिशत विकलांग घोषित कर देने के कुछ अंतराल के बाद उसके दायें हाथ की कलाई के पास जीवन के कुछ संकेत मिले। बसंत ने मानो इन संकेतों को जैसे समझ ही लिया हो। अपनी कलाई पर पेन्सिल बंधवाई और यूं ही रेखायें खींचने लगे। कुछ समय बाद इसका अच्छा परिणाम निकला। धीरे-धीरे वे स्केच बनाने लगे। उनके जीवन में क्रांति लाने का यह पहला प्रयास कामयाब रहा। घर के लोगों ने और दोस्तों ने जिस तरह उत्साहवर्धन किया उससे बसंत का आत्म-विश्वास बढ़ता गया।

कैनवास पर आयल कलर से काम करना प्रारम्भ हो गया। विगत आठ वर्षों से सतत् पेंटिंग कर रहे हैं। इस अर्से में लगभग सवा तीन सौ (325) पेन्टिंग्स बना चुके हैं। ये पेन्टिग्स विविध रूपी और विविध विषयों पर आधारित है। विषयों में समसामयिक, राष्ट्र-प्रेम, सामाजिक बुराइयों के खिलाफ, आध्यात्मिकता के अतिरिक्त लोक-कला व संस्कृति को भी कैनवास पर अनूठे अंदाज में उकेरा है। इन पेन्टिंग को देखकर अनायास फूट पड़ता है—'वाह, क्या खूब'।

बसंत की कला कई प्रदर्शनियों में उजागर हुई है पर उन्हें लगता है कि उनकी कला को जो मुकाम मिलना चाहिये वो अभी तक नहीं मिला। अपनी कला के लिये उन्हें बड़े मंच की दरकार है। दिल्ली या मुंबई की बड़ी आर्ट गैलरियों में अपनी कला को पहुँचाने की हसरत है। कई बार तो उन्हें अपने काम को लागत से भी कम कीमत पर बेचकर घाटे का सौदा करना पड़ा। लेकिन बसंत थक हारकर बैठने वालों में नहीं। फोन पर जब मुझसे कहा—'दीदी, क्या कोई बड़ा मंच, आर्ट गैलरी या कोई संस्था मेरे लिये पहल नहीं कर सकती, जिससे मैं आगे भी इसे जारी रख सकूँ। न जाने कितनी अमूर्त कल्पनायें हैं जिन्हें मूर्त रूप देना चाहता हूँ। पर जब कोई ठोस मदद उत्साह को बढ़ाने के लिये नहीं होती तो शायद एक ऐसा बिन्दु आ जायेगा जहाँ मैं कुछ नहीं कर पाऊँगा।

बसंत की आवाज का दर्द मुझे जब-तब याद दिलाता रहता है कि कुछ ऐसा करना है जिससे कला प्रेमी जमात का ध्यान बसंत की ओर खींचा जा सके।

बसंत का आदर्श उसकी माँ है, जो एक तपस्विनी की तरह बस घर-परिवार की सेवा के साथ बसंत की सेवा में भी तत्पर रहती है। बसंत पलंग पर उल्टे (औंधे मुंह) पड़े रहते हैं और उनकी माँ रोटी-सब्जी या दाल का कौर उनके मुँह में देती है। यह दृश्य पर्दे पर देखकर आँखें नम हो गई। लगता है जैसे कोई मादा

पक्षी अपने चूजे को दाना खिला रही हो। माँ के चेहरे पर एक गीली-सी हंसी होती है। तभी तो माँ उनकी आदर्श है।

संवेदनाओं से सराबोर बसंत ने उड़ीसा के तूफान पीड़ितों के लिये बाइस मीटर बैनर पर महापुरुषों का चित्रांकन कर सहायता हेतु अपील की। क्या कोई मदद का हाथ उन्हें उबारेगा?

●●●

विकलांगता ने बनाया फरिश्ता!

'अमर सेवा संघ', एक ऐसी संस्था है जो अपंग–अपहाहिज के लिए आशा की किरण बनकर उभरी, इतने छोटे से गांव में, जहाँ की आबादी वर्तमान में पच्चीस हजार होगी, सुविधाओं के नाम पर 'बौद्धिक पर्वत' शृंखला तथ हनुमंत नदी के मीठे जल की प्राकृतिक देन, 'आयकुडी' नाम के इस हरे भरे सुहाने मौसम वाले गांव में 'अमर सेवा संघ' की वृहद योजना का ख्याल आया भी तो किसे? युवा रामकृष्णन के मन में इस संघ की स्थापना जैसी दूरदर्शी सोच शायद इसीलिए आई, क्योंकि 1975 में एक हादसे में गर्दन में चोट लगने के कारण नीचे के उनके सारे अंग सिर्फ नाम को ही रह गए थे। सारे अंग सही सलामत पर किसी कार्य या अर्थ के नहीं रह गये थे।

'आयुकुड़ी' गांव के उत्साही रामकृष्णन जब इंजीनियरिंग कॉलेज के चौथे वर्ष में थे, नौसेना का एक विज्ञापन देखा, ऑफीसर्स के चयन और ट्रेनिंग संबंधी सूचना देखकर उनके जैसा 21 वर्षीय उत्साही युवक भला चुप कैसे बैठता। फॉर्म भरकर भेजा और परीक्षा देने बैंगलुरू पहुँच गया। दो-तीन दिन में लिखित, मौखिक और शारीरिक परीक्षाओं का क्रम था। प्रारम्भ के दोनों ही अच्छे से निपट गए, शारीरिक परीक्षा में न जाने कैसे और कहाँ चूक हो गई? 20 फुट ऊपर से जिस लकड़ी के तख्ते पर कूदना था, वो गर्दन पर जोर से लग गई। रामकृष्णन को उस तख्ते से 10 फुट नीचे जमीन पर कूदना था। पर वो चोट से आहत जमीन पर गिरे। बैंगलुरू और पूणे के आर्मी अस्पताल में बीस महीने इलाज चला, 10 जनवरी, 1975 को ये हादसा हुआ था। रामकृष्णन अपने हाथ पैर ढूंढ़-ढूंढ़कर थक गए थे। आखिरकार उन्हें समझ आ गया कि उनके हाथ पैर ही नहीं, गर्दन के नीचे का कोई भी अंग संचालन नहीं कर रहा है। पुणे के आर्मी अस्पताल से उन्हें अपने गाँव आयुकुडी लाया गया। सारा गाँव उन्हें देखने उमड़ पड़ा। इक्कीस-बाइस वर्ष के बेटे का हर एक काम माँ करती।

इन हालातों में बिस्तर पर पड़े-पड़े रामकृष्णन सोचते की प्रभु ने उन्हें इतने

बड़े हादसे के बाद भी जीवित रखा है, तो इसका मकसद अवश्य है? गर्दन के ऊपर उनकी चमकती आँखें, चौकन्ना-सजग दिमाग, नाक-कान सब दुरुस्त थे। व्हील चेयर पर भी जिन्हें शिशु की मानिंद उठाकर बैठाते थे। फिक्र सताती थी कि यूं बिस्तर और कुर्सी पर सारी जिन्दगी, बिना कुछ किए काटी नहीं जा सकती, घर पर पड़े-पड़े बच्चों को पढ़ाने का काम किया। उन दिनों गाँव की आबादी महज 6000 थी। रामकृष्णन की माँ बेटे की खुशी और आत्मबल बढ़ाने को कुछ भी करने को तत्पर रहती थी। गाँव में बच्चों के माँ-बाप को समझा-बुझाकर बच्चों को लेकर आती। माँ का मन कहता बच्चों को शिक्षित कर बेटा आत्मगौरव का अनुभव करे चार-पाँच वर्ष बाद घर के पास एक नर्सरी स्कूल की स्थापना की, जिसमें 75 बच्चे थे। इसमें रामकृष्णन के मन में अपने भावी जीवन के लिए एक निश्चित दिशा का सूत्रपात हुआ।

उस असहाय परिस्थिति में उनके दिलो-दिमाग में एक संस्था की स्थापना का विचार आया, पोलियो से ग्रस्त या हादसे में अपंग हुए बच्चों के लिए विद्यालय और चिकित्सा सुविधा की स्थापना हो जाए। अंतर्राष्ट्रीय विकलांग वर्ष में जून, 1981 में अमर सेवा संघ की स्थापना और रजिस्ट्रेशन करवाया। अपने घर के पास एक छोटे से कमरे से प्रारम्भ हुआ यह संघ कई मायने में अद्वितीय है, संघ के नाम पर दृष्टिपात करें, तो 'अमर' नाम यूं ही नहीं चुना कि संघ अमर रहे या अमर रहेगा। पौने दो वर्ष आर्मी अस्पताल में इलाज के दौरान रामकृष्णन से डॉ. अमरजीत सिंह चहल हमेशा कहा करते थे—'रामकृष्णन आशा और हौसला कभी मत छोड़ना, तुम अवश्य ही कुछ करोगे।' रामकृष्णन ने भी अच्छी तरह महसूस कर लिया था कि जिसका मन-मस्तिष्क अपंग या अपाहिज नहीं है, वो कुछ भी कर सकने में सक्षम है।

अमर सेवा संघ में पोलियोग्रस्त बच्चों को लाया गया, उनकी चिकित्सा, शिक्षा के बाद केलिपर्स बनवा कर चलने में मदद करना। 1981 से दस वर्ष संघ के लिए अध्यक्ष श्री रामकृष्णन और स्वेच्छा से कार्य करने वाले कार्यकर्ताओं ने दिन-रात एक करके जनसेवा की मिसाल कायम की। तमिल लेखिका शिवशंकरी को किसी परिचित से रामकृष्णन के हादसे और हौसले की बात का पता लगा। वो आयुकुडी जाकर उनसे मिली, वहाँ की गतिविधियाँ देख बहुत उद्वेलित हुई। उन्होंने विस्तारपूर्वक पूरी बातों का खुलासा करते हुए एक तामिल साप्ताहिक में भावपूर्ण लेख लिखा, मुखपृष्ठ पर श्री रामकृष्णन का व्हीलचेयर पर बिठाया हुआ चित्र भी था।

सुश्री शिवशंकरी के लेख का तो अद्‌भुत प्रभाव पड़ा ही था, एक सोया-सा गाँव लोगों के आवागमन और अनुदान की रकम से भरपूर हो रहा था। इसी के साथ चैन्नई दूरदर्शन पर सुश्री शिवशंकरी द्वारा बनाया हुआ वृत्तचित्र 'ए फेस इन द क्राउड' भी दिखाया गया, फिर तो देशी-विदेशी पत्रिकाओं में मानो होड़ ही लग गई। रीडर्स डायजेस्ट हीरोज फार टूडे स्तंभ में 'द विलेन एंगल' ने सैकड़ों लोगों को झकझोर दिया। सन् 2007 में 'चैनल सी.एन.एन.यू.एस. ने मेडिकल मिरेकल में दुनियाभर के 60 लोगों में से तीन व्यक्तियों को चुना। तीन में एक श्री रामकृष्णन है, जिनका साक्षात्कार दिसंबर, 2007 में लगातार कुछ दिन आता रहा।

संघ के अध्यक्ष श्री रामकृष्णन ने सदैव ही खुद की सहायता को बढ़े हाथों को रोका। किसी से स्वयं के लिए आर्थिक मदद नहीं ली, पर संघ के लिए वे सदा मदद की गुहार करते रहते। यहाँ 1991 में भवन निर्माण प्रारम्भ हुआ और 1992 में विद्यालय और अन्य कार्य बड़े पैमाने पर यहाँ चलने लगे। 5.32 एकड़ में फैले अमरसेवा संघ में, 1992 में एक और इसी तरह के विलक्षण व्यक्तित्व का आगमन हुआ, ये हैं श्री शंकररामन, जो जन्म से माँसपेशियों के गड़बड़ी के शिकार हैं, पर इनकी शारीरिक कमी को इनके माता-पिता के हौसले और इनके स्वयं के बुद्धिचातुर्य ने मात दे दिया, घर पर शिक्षक से शिक्षा ग्रहण कर उच्च शिक्षा के लिए स्कूल-कॉलेजों में अनेक विरोधों और अड़चनों को पार कर शिक्षा दिलवाई। सी.ए. की परीक्षा में पहले प्रयत्न में सामान्य छात्र के रूप में प्रथम रहना साधारण-सी बात नहीं, प्रैक्टिस अच्छी चल रही थी, तभी नन्हें से गाँव आयुकुडी के 'अमर सेवा संघ' तथा इसके अध्यक्ष श्री रामकृष्णन के बारे में पढ़ा-सुना, शंकररामन के मन में जनसेवा का जज्बा था ही और वो कहीं सेवा कार्य से जुड़ना ही चाह रहे थे, 'अमर सेवा संघ' को जानकर उन्हें मानो अपना ठिकाना ही मिल गया। सन् 1992 में ये दोनों विलक्षण फरिश्ते एक दूसरे से मिले और संघ को एक और एक दो नहीं ग्यारह की ताकत मिल गई। अभी तो संघ को अनगिनत ऊँचाइयों को छूना है।

●●●

कुछ हंस लें

हमारा राष्ट्रीय खेल-हाय ऽ ऽ

सुबह नींद खुली और 'हाय, फिर सुबह हो गयी, उठना ही पड़ेगा?' उठकर बाथरूम तक घिसटकर आये और अलसाये भाव से नल खोला—'छी, कितना कसा हुआ है खुलता ही नहीं, हाथ फिसलकर रह जाता है।'

रात को सोने से पहले हथेलियों में वैसलीन या क्रीम मलने से हाथ चिकने रह गये थे और आजकल के फैंसी नल इतनी आसानी से खुलते हैं क्या?

किसी तरह आँख धुली, दाँत साफ हुए और नींद भगाने का पर्व पूरा हुआ, पर ये क्या चेहरे पर तब भी एक बेजारी और सुबह हुई तो क्यों कर हुई वाला भाव चस्पा था। आगे अभी कोसने को बहुत कुछ बाकी है। दूध वाला देर से आता है, दूध में पानी मिलाता है। बाई टाइम से नहीं आती और काम भी साफ नहीं करती। ओह, आज फिर नल आकर चला गया, पंद्रह मिनट तो पानी छोड़ते हैं, वो भी सुबह इतनी जल्दी। इतने में बिजली गुल हुई, 'ओह माय गॉड', ट्यूबवेल से भी पानी नहीं ले सकते। उफ् ये नर्क है या उससे भी बदतर कोई जगह।'

जनाब, हम जिस शहर में रहते हैं और दुनिया में इसकी तरह लाखों शहर हैं, ये वही जगह है। इससे बदतर जगहों को जिन्हें नर्क कहा जा सकता है। हमने देखा ही नहीं है, वर्ना इसे नर्क कहते हैं।

कहते हैं इन्सान अपने तौर-तरीके, व्यवहार से अपने वास को स्वर्ग या नर्क बना सकता है, जो व्यक्ति सवेरे की सुखद और सुंदर बेला में कोसते हुए प्रवेश करेगा, उसके आसपास किस तरह के वातावरण का निर्माण होगा, इसका कुछ-कुछ अंदाज लगा सकते हैं। एक दिन सूर्योदय न हो तो दुनिया में हा-हाकार मच जायेगा। अगर प्रत्येक प्रातःकाल के आगमन को एक सच्चे साफ दिल से स्वागत करें और कामना करें कि दिन अच्छा व्यतीत हो, तब तो कोसना बंद हो।

इन्सान पर जब मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ता है, तो वह अपनी किस्मत को कोसता है, इसमें कोई असाधारण बात है भी नहीं। मुसीबत में ईश्वर को दो

तरह से याद किया जाता है, एक करुणा भरी पुकार से सहायता की गुहार करना तथा दूसरा ईश्वर को मनभर के कोसना—'हे ईश्वर, तूने सारी परेशानी मुझे ही क्यों दी, मैंने क्या पाप किया है?

एक वयोवृद्ध सज्जन आम छोटी-मोटी शिकायत लिये चिकित्सक के पास गये। उनकी तकलीफ या बीमारी तो एकदम मामूली थी, पर उसके लिए जिस तरह कोस रहे थे, उससे लगता कि उनकी जान बस अब गयी या तब गयी। ये हालत तब, जब उनका एक पैर कब्र में था—चिकित्सक महोदय कुछ विनोदी स्वभाव के हैं। बहुत धीरज से वृद्ध महोदय की शिकायत, पुकार और अंत में ईश्वर को कोसना कि 'मुझे इस उम्र में तकलीफ देकर किस जन्म का बैर निकाल रहे हो।'

सब कुछ सुनने के बाद चिकित्सक महोदय ने पूछा—'आपके हिसाब से ये तकलीफें किस उम्र में होनी चाहिये, क्योंकि वृद्धावस्था के बाद तो कोई अवस्था होती ही नहीं है।' वृद्ध महोदय को डॅक्टर का इशारा तो समझ आया, पर कोसना फिर भी जारी था—एक दिन उन्हीं के परिवार की एक नन्हीं बच्ची के गंभीर बीमारी से ग्रस्त होकर व दुःखदायी चिकित्सा का सामना करना पड़ा, तभी वृद्ध महोदय का कोसना भी बंद हुआ। पति अपनी कमियों को छुपाने को बीबी को कोसता है—'दिनभर न जाने क्या करती हैं महारानी जी, अरे इतना नहीं हुआ कि तनिक ये कर दिया या वो कर दिया?' जबकि वो काम पति महोदय भी कर सकते हैं, बल्कि उन्हीं का काम होगा।

उधर, पत्नी का कोई कार्य बिगड़ने भर की देर है या बहुत ही मामूली-सा कारण मसलन, पड़ोसी के गहने-साड़ी से जलन या अपने बच्चों का परीक्षा में दूसरे बच्चों की तरह अच्छे अंक न लाना ही क्यों न हो, 'उनका पति को कोसना प्रारंभ हो जायेगा।'

'मेरे तो भाग्य ही फूट गये, माँ-बाबू जी ने क्या देखकर इनसे शादी करा दी। शादी के बाद इतने वर्षों में सूई की नोक बराबर कोई चीज सोने की ले दी हो' या फिर 'ये तो होता नहीं कि बच्चों को तनिक पढ़ा दें, जाने ये कैसा दफ्तर है, जहाँ इतनी देर-देर तक काम होता है। सब बहाने हैं। बच्चों के तो भाग्य ही फूट गये, ऐसा पिता मिला है।'

स्कूल के दिनों में मैं अपनी एक सहेली के साथ स्कूल जाती थी। मुझे देखकर उसकी माँ आवाज लगाती—'अरी मुँहजली (करमजली) तैयार हुई कि नहीं, फलाँ आ गयी है, जल्दी निकल।'

कई दिन तक तो मैं डरी-डरी रही और घर के अंदर भी नहीं जाती थी। आखिर एक दिन मैंने उससे पूछ ही लिया कि उसकी माँ उससे नाराज क्यों है? 'नाराज, नहीं तो, माँ तो खुशमिजाज किस्म की है। बहुत बड़ी गलती पर ही गुस्सा करती है। और जो तुझे रोज करमजली और मुँहझोंसी कहती है वो?'

'अरे वो, वो तो उनका लहजा है। हम बच्चों को भी सुन-सुनकर आदत पड़ गई सो वो सीधे-सीधे नाम से बुलायें तो लगता है पता नहीं कौन अनजाना बुला रहा है।'

मेरे भाई-भाभी विदेश से कुछ दिनों के लिए आये थे। अपने दूर के रिश्तेदारों से भी एक-एक दिन मिलना चाह रहे थे। ऐसे में एक-दूसरे के मामा या काका से मिलने गये और पहुँचते-पहुँचते रात बहुत हो गयी थी सो अधिक बातें नहीं हुईं। उन्होंने एक व्यक्ति से कहा—'अरे, उल्लू के पट्ठे, जा ऊपर का कमरा ठीक कर और सामान ऊपर ले जा।'

भाई-भाभी असमंजस में देख रहे थे कि उस व्यक्ति के चेहरे पर शिकन तक न आयी। ऊपर कमरे में पहुँचने के बाद दोनों इस बाबत बात करना चाह रहे थे। उस व्यक्ति ने भैया-भाभी से दूध पीने के लिए आग्रह किया और कोई और जरूरत तो नहीं है देखा फिर नीचे चला गया। जब दोनों ही रह गये तो भाभी बोली—'अपने उधर मालिक इस तरह बात करें तो नौकर लात मारकर चल देगा।'

भैया भी आश्चर्य कर रहे थे कि कैसा नौकर है, चुपचाप सुनता रहा।

अगले दिन सुबह जल्दी तैयार होकर दोनों नीचे आये तो एक बहुत बड़े आश्चर्य से सामना होने वाला था, जिसकी जरा भी कल्पना उन दोनों को नहीं थी। नाश्ते की टेबल पर मामाजी के साथ वो रात वाला व्यक्ति भी बैठा था। भाई साहब और भाभी माजरा समझने की कोशिश कर रहे थे, तभी मामाजी की नरमिली, कड़कती आवाज़ गूँजी—'अबे गधे, चंपा से बोल न जल्दी से परांठे लाये। अब ये तेरे भैया-भाभी नाश्ता करके आगे भी जायेंगे कि नहीं।'

'जी पिताजी' कहते हुए उस व्यक्ति ने जो अंदर की ओर देखकर नाश्ता जल्दी लाने को आवाज दी तो भैया-भाभी इस तरह सिटपिटाये मानो उन्होंने कोई चोरी की या गलती की हो। जाते-जाते कार में बैठते हुए भैया ने अपने कजिन से धीरे से पूछा कि वो पिता के अपशब्द कैसे सहन कर लेता है। मलिन मुख से वो बेचारा बोला—'क्या करूँ, बताइये? और अब तो आदत ही पड़ गयी, पिताजी के कहे अपशब्द गालियाँ ही नहीं लगतीं।'

कार का ड्राइवर कभी 'साली हवा भी ऐसी चल रही है' कभी सड़क को

भद्दी गाली दे रहा है, तो कभी किसी सायकल सवार या पैदल राहगीर को अपशब्द कह रहा है।

भैया-भाभी लौटकर आये और सारी बातें सुनाते-सुनाते हँस-हँसकर लोट-पोट हुए जा रहे थे। अचानक भैया ने मुझसे पूछा—'बोल तो छुटकी, हमारे देश का राष्ट्रीय खेल क्या है?'

'हॉकी! विदेश क्या गये ये भी भूल गये?' मैंने चुटकी लेते हुए कहा।

'भूला नहीं हूँ यार, पर सोचता हूँ कि इस देश का राष्ट्रीय खेल 'कोसना' हो तो काम्पिटिशन तगड़ा रहेगा। हॉकी में भले ही गोल नहीं दाग पा रहे हैं, पर कोसने की स्पर्धा में एक शब्दकोश अपशब्दों का अवश्य प्राप्त हो जायेगा।'

'हाँ, और नहीं तो क्या, एक और अमृत-मंथन हो जाये'—भाभी हँसते हुए बोली।

●●●

हाय, उन्हें चश्मा लग गया

जब ये चालीस के गलत छोर पर पहुँचे तो आँखों की तकलीफ के मारे नेत्र चिकित्सक के पास जाना पड़ा। अंदाज तो हो ही गया था कि चश्मा चढ़ेगा। अफसर पति, ऊपर से चश्मा, कितना रौबदार लगेगा! अफसर तो हैं ही अब बुद्धिजीवी भी लगने लगेंगे। चश्मे बने भी तो दो, एक पढ़ने का एक बाकी समय पहनने का। पन्द्रह दिन में समझ आ गया कि एक तीसरा चश्मा इन दो चश्मों की ढुंढ़वाई के लिये बनवाना पड़ेगा।

सुबह अखबार पढ़ा, फाइलें देखी और चश्मा उतारकर रख दिया। फिर हमेशा पहनने वाला चश्मा नहाते समय उतारकर कहीं रख दिया। दफ्तर जाते समय जल्दी में जो चश्मा हाथ आया वही पहनकर चल दिये। पर जल्दी ही समझ आ गया कि दफ्तर जाने से पहले दोनों चश्मों की खोज के लिये मैं, नौकर और हमारे पतिदेव संयुक्त रूप से जुट जाते। जिस दिन यह संयुक्त प्रयास हो नहीं पाता (क्योंकि सुबह की आपा-धापी में कई बार यह संस्कार छूट जाता) तो निश्चित जानिये कि इनके दफ्तर पहुँचने के कुछ देर बाद चपरासी चश्मा लेने आयेगा या इनके पी.ए. का फोन आयेगा 'साहब का चश्मा भिजवा दीजिये।'

ऐसे नाजुक मौकों पर ये स्वयं व्यस्त हो जाते हैं। उनके पी.ए. पर हम अपना क्रोध उतार नहीं सकते। खैर साहब, इनके दफ्तर जाने के बाद भी भला हमें चैन कहाँ? चपरासी जल्दी मचाता और चश्मा ढूंढ़ अभियान में लग जाते। इस प्रयास में चश्मा रखने की ऐसी-ऐसी माकूल जगहों की ईजाद हमने कर ली, जिनके बारे में हमें भनक तक नहीं थी। वैसे ये भी सच है कि अगर हमने इनमें से किसी भी जगह पर चश्मा रखा होता तो ये शान से हमें डांटते। हम भी अपनी गलती मानकर चुप रह जाते। पर वर्तमान स्थिति में तो हम अपनी बेजारी भी नहीं दिखा सकते क्योंकि लगाम इनके हाथ होती जरूर पर लगाम खींचने का काम पी.ए. या चपरासी की आड़ में होता।

जिस बात का अंदेशा रहा करता था वही हुआ। पंलग पर चश्मा पड़ा रह गया और पलंग से उठते हुए हाथ का टेका चश्मे पर दबाव के साथ पड़ गया।

इनकी शक्ल रोने-रोने को हो गई। दफ्तर की उन ढेर सारी फाइलों का निपटारा कैसे हो, यह प्रश्न भी कुछ कम कठिन न था।

आनन-फानन में नए चश्मे का ऑर्डर दिया गया। बहुत अरसे बाद मेरे जीवन में साढ़े तीन दिन की बहार आई थी। न फाइलों का ढेर न चाय का सिलसिला। सबसे बड़ी राहत थी, चश्मा ढूंढ़ने से निजात। वैसे हम जानते थे कि ये राहत, खुशी सब अल्प समय की हैं पर जो भी हो, जितना भी हो हम उसे खोने को तैयार नहीं थे। सो पहले की मुसीबत को भूल गये और आगे आने वाली हकीकत से अनजान बने रहे। पतिदेव के चेहरे पर जरूर मुर्दनी छाई रही पर हम उससे भी बेखबर बने रहने की कोशिश करते रहे।

चौथे दिन दफ्तर से आये तो चेहरा खिला-खिला-सा था। कारण ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं थी। चश्मा बाकायदा नाक पर बैठा जो था। वही सिलसिला प्रारम्भ हो गया। कभी इस चश्मे की खोज कभी दूसरे चश्मे की। आखिर तीसरा चश्मा बनवाना ही पड़ा। पहले दो चश्मों को ढूंढ़ने के लिए नहीं, इस बार बना बायफोकल लेंस वाला चश्मा। इसे दफ्तर में ही रखने का इरादा था। इससे पढ़ने-देखने दोनों काम हो सकते थे, बार-बार उतारने की भी आवश्यकता नहीं थी। पर जल्द ही समझ आ गया कि व्यावहारिक रूप से यह इतना सहज नहीं है। एक तो ऐसे चश्मों के फ्रेम कुछ भारी होते हैं सो कमानी से कानों में तकलीफ होने लगी। फिर पढ़ने और देखने के बीच आँखों का सामंजस्य बिठाना इतना भी सरल न था। इसके अलावा चश्मा खोज अभियान बदस्तूर जारी था। यहाँ एक धीरे-धीरे दिनचर्या का अंग बन गया।

बात यहीं तक रहती तो गनीमत थी। मुसीबत आई दूसरे रूप में। रेलवे स्टेशन टिकट बुक कराने गये या जहाँ भी पढ़ने और देखने वाले चश्मे की अदला-बदली हुई तो निश्चित ही एक चश्मा गुम जाता। जब हालात ये है कि चश्मा बनवाने का खर्च हर महीने के अंतराल से शामिल हो जाता है। चश्मे का नम्बर तीन-चार वर्ष से पहले नहीं बदलता पर चश्मा गुम हो होने का अंदेशा हर महिने रहता।

अब अपनी गलत खुशफहमी का एहसास होने लगा। कहाँ तो सोचा करती थी कि चश्मा नाक पर चढ़ते ही रौब गालिब होगा, बुद्धिजीवी लगेंगे। पर असली बात तो ये लगने लगी है कि चश्मा लगाना और उसको पहनकर भुला देना या उसको उतारकर उस जगह को भुला देना बुढ़ापे की निशानी है। पर मन माने तब ना! मियां अगर बूढ़े हुए तो बेगम क्या होगी—जी हां, बूढ़ी!

इसीलिये तो मन कलपता है कि हाय, उन्हें चश्मा लग गया।

●●●

आफ्टर ऑल दे आर डॉलफिन्स

बच्चों को जब भी चित्रकारी करने को कहा जाए, वही पर्वत शृंखलाओं के बीच से निकलता आधा सूर्य, ऊपर से बहती आ रही नीली नदी, नीचे हरा मैदान। भूगोल के नक्शे में भी नदियों को नीली रेखा से दर्शाते आ रहे हैं। तब से उस नीले पानी को, नीली नदी को ढूँढ़ती आ रही हूँ। समुद्र का पानी अवश्य कहीं-कहीं हरा नजर आया, पर वो भी बीती घटना हो सकता है, है ना। पर हाँ स्लेटी, लाल मैरून अरे वाह कितने रंग-कितने रंग, पानी है या इन्द्रधनुष।

आप सारी दुनिया-जहान घूम आइए और बताइए पानी के कितने रंग किस देश में मिल सकते हैं। इस प्रश्न का उत्तर कठिन तो नहीं लगना चाहिए। हर हाल में उत्तर तो वही, एक ही अडिग है। आपको 'क्लू' चाहिए। श्रीराम, कृष्ण, अशोक, बुद्ध का देश, अब तो जवाब दे सकेंगे न, ओ-हो, 'क्लू' कुछ कठिन हो गया है। (प्रश्न से भी कठिन)। अब एक सरल 'क्लू' देती हूँ, वह देश है—'इंदिरा इज इंडिया' जी हाँ, इंडिया यानि भारत, जी हाँ, वही भारत जहाँ राजस्थान में औरतें न जाने कितने किलोमीटर चलकर जाती हैं, दो घड़े पानी मिलने की आस में। मध्य प्रदेश में ही कई तहसीलें हैं, जहाँ औरतें सिर पर घड़ा रखकर पानी भर-भर कर गंजी हो रही हैं। रहीम के दोहे को प्रमाणित करने को कोई और जगह नहीं मिली। क्या करें, कुएँ सूख रहे हैं सो उसकी जगह पर घड़ा रखने से रही।

काफी समय पूर्व एक रात सपने में क्या देखा कि बहुत से वराह अवतार मेरी ओर चले आ रहे हैं घबराकर पसीने-पसीने हो गई, क्योंकि चेहरे उनके वराह के सा मन और शरीर मुनष्य-सा। स्वप्न की बात न किसी से कह सकती थी, क्या कहती? हाँ स्वप्नफल वाले कैलेंडर में अवश्य इसका मतलब खोजने की कोशिश की। तीन-चार दिन बाद की बात है स्वप्न का अर्थ उसी तरह मेरी ओर आता दिखाई दिया। एक प्रमुख पत्रिका के मुखपृष्ठ पर लोगों का दल चेहरे पर ऑक्सीजन मास्क लगाए हुए, पूर्वाभास स्वप्न में!

जंगल बढ़ाओ, पेड़ लगाओ, हरियाली लौटाओ अभियान, बचपन से पेड़-पौधों, पर्यावरण के प्रति जागरूकता से कुछ आशा का संचरण हुआ कि आने वाली पीढ़ी को जन्म लेने से पहले या जन्म लेते ही मृत्यु का आलिंगन तो नहीं करना पड़ेगा। एक प्रसिद्ध डिटर्जेंट कम्पनी के दावे ने इस आशा को बल ही दिया। उसका दावा है कि उसके पाउडर में ऑक्सीजन (एक्टीव) है, जो सूखे दाग को कपड़े से छू कर देता है। दाग की किसे फिक्र है, पर अगर ऑक्सीजन अलग कर साँस तो ली जा सकती है।

पर जनाब परेशानी हुई पानी को लेकर, हालाँकि स्कूल-कॉलेज में हाइड्रोजन के दो अणु और ऑक्सीजन का एक अणु मिला कर पानी बनाने का नुस्खा तो पा लिया, पर उन चंद बूँदों को तो अमृत की बूँदों की तरह विज्ञान के विद्यार्थी ही देख पाते हैं, अब उस दिन बिटिया रानी मुँह फुलाए घर आई कि प्रश्नोत्तर (क्विज) के कार्यक्रम में इनाम के कप तक पहुँच कर भी मुँह टापते रह जाना पड़ा। केवल इसलिये कि पानी का रंग पूछने पर बिटिया ने जो उत्तर दिया वह, निर्णायकों ने माना नहीं। हालाँकि उसे पूरा विश्वास है कि उसका उत्तर सही है, शत-प्रतिशत सही। मैंने पूछा, 'तूने आखिर जवाब क्या दिया था?' बोली, 'कभी स्लेटी, कभी मटमैला, पीला और बारिश में तो गंदला और ईंट के रंग का। मैं तो रोज पानी भरती हूँ, मुझे इतने सरल प्रश्न का उत्तर नहीं मालूम होगा।'

मेरा बेटा विज्ञान का विद्यार्थी है (जैसा कि अक्सर हर घर में होता है), बोला, 'बुद्धू, तूने तो नाक ही कटा दी। पानी का भी कहीं रंग होता है; वो तो पारदर्शी, रंगहीन और स्वादहीन होता है।'

बेटी पूरे ताव में थी, एक तो कप हाथ से निकल गया और भाई हमेशा की तरह कम समझदार माने, सो तीखे शब्दों में प्रहार करते हुए बोली, 'कभी सुबह जल्दी उठकर पानी भरा है, भरोगे तो व्यावहारिक ज्ञान से इन प्रश्नों का उत्तर वैसे ही मिल जाएगा। पर तुम लड़के हो, सिर में भले ही भूसा भरा हो पर विज्ञान लेना तुम्हारा जन्म सिद्ध अधिकार है। पानी का रंग जानने को तुम्हें विज्ञान की प्रयोगशाला में जाना पड़ेगा।' बेचारी रोते-रोते अंदर कमरे में चली गई।

पर मेरे मन पर एक बोझ छोड़ गई। उसे किस तरह पानी या जल का शुद्ध और सही स्वरूप बताऊँ या दिखाऊँ, वरना वो कभी जान ही न पाएगी, 'मिनरल वॉटर' की बोतल लेकर बता भी दूँ तो वह, सही अर्थों में, प्राकृतिक स्रोतों से 'डाइरेक्ट' पाया हुआ शुद्ध पानी तो होगा नहीं। भविष्य में भले ही इनके 'प्लांट'

को नल की तरह पानी का स्रोत मानने लगें। मैं इसी उधेड़बुन में पड़ी थी सो किसी और बात पर अधिक ध्यान नहीं दे पा रही थी। वरना भारतीय नारी के ध्यान का केन्द्र बिन्दु सिवाय पति और बच्चे (निस्संदेह खुद के ही) के अलावा और कोई नहीं होता है। सो पति देवता के गुमसुम रहने या चिन्ता में डूबे रहने का कारण न देख पाई, न पूछ पाई, सो जान भी न पाई।

कुछ ही दिनों बाद पति महोदय अत्यधिक खुश दिखाई दिए और मेरा ध्यान पानी और उसके रंग से हट गया था, सो उनके दमकते चेहरे ने तुरंत ध्यान खींचा।

श्याम को चाय पीते, हुए बोले, 'अच्छा हुआ परेशानी दूर हुई' मैं बेवकूफों की तरह उन्हें देख रही थी शायद, क्योंकि वो पलटकर आश्चर्य भरी नजरों से मुझे देख रहे थे।

'अरे वही डॉलफिन वाला प्रश्न। पिछले दो सप्ताहों से पूरा दफ्तर परेशान रहा।' ये मेरी नासमझी पर हैरान हो रहे थे पर बिना पूछे रह न सकी।

'दफ्तर के क्लब में डॉलफिन का क्या काम, मनोरंजन और स्वास्थ्य (स्वास्थ्य शब्द पर जोर देते हुए) के लिए कितने ही तो खेल हैं।'

'तुम तो सही में बेवकूफों-सी बात कर रही हो। अरे बॉस की बेटी अपमानित और रुआँसी होकर डैडी के पास आए और डैडी उसके प्रश्नों का समाधान भी न कर पाए।'

मेरी उत्सुकता तो जाग ही गई थी। अपने ऊपर ना समझी का ठप्पा लगने का खतरा उठाकर पूछ ही बैठी—'पूरा मामला क्या है?'

'येल्लो, इतने दिनों से रामायण सुनती आ रही हो फिर भीऽऽ। अपने बॉस की बिटिया रानी 'क्विज' के फाइनल तक पहुँच चुकी थी। फाइनल में मिलने वाली मारुति कार बस हाथभर दूर थी, पर बस प्रश्नकर्ता तो मानो तय कर बैठे थे कि ऐसा सवाल पूछें जिसका उत्तर उसी टीम को आता हो जिसे उन्होंने इनाम देने का पहले से तय कर लिया हो। अब बेचारी ये क्या जाने 'डॉलफिन' क्या है, क्या खाती है, कहाँ व कैसे रहती है?'

मैंने बीच में ही टोक दिया, 'पर ये तो सबको मालूम है कि डॉलफिन मछली है।'

कुछ आश्चर्य से मेरी ओर देखा, पलांश को लगा उस दृष्टी में गर्व या खुशी भी है। मेरा भ्रम भी हो सकता है। बॉस की बेटी से अधिक जानकारी भला कोई

कैसे रख सकता है। सो आगे का हाल जानने को मैंने उन्हें मुँह बाए ताकने का ठान लिया।

'ऑफिस के क्लब के तालाब में, अरे वही 'लोटस पॉण्ड' में से कमल और उसकी जड़ों और अन्य कुतृण को निकाल सफाई कर, धो पोंछना है।'

मैंने ठान लिया था सो बेवकूफों की तरह देखती रही। ये किसी ख्वाब में, वो भी सुनहरे ख्वाब में डूबे से बोले, 'फिर तालाब में 'क्लोरिनेटेड वॉटर' भरा जाएगा। आखिर डॉलफिन को उनमें रखना है, कोई मजाक थोड़े ही है।'

मैं तो ख्वाब में नहीं थी, इसी धरातल पर थी और सारी बों सुनकर चिन्तित हो गई थी कि कर्मचारियों की तनख्वाह से रकम कटेगी। सो पूछ बैठी, 'इसमें तो बहुत खर्च आएगा?'

'खर्च?' पतिदेव ने जिस तरह मुझे देखा, मुझे संदेह ही नहीं पूरा विश्वास होता जा रहा था कि मैं पहले दर्जे की मूर्ख हूँ। 'लाखों-करोड़ों का खर्च होता, क्या कह रहा हूँ होता, पर हमारे बॉस क्या ऐस-वैसे हैं? अपने अमेरिका वाले साले से 'एन्टरटेन कम एज्युकेशनल गिफ्ट' में दो डॉलफिन मँगवा लिए। सरकार भी बॉस की बुद्धि की कायल हो गई सो सब फटापट-झटापट हो रहा है। अगले एक हफ्ते हम सब ऑफिस की फाइलें नहीं निपटाएँगे, वरन् श्रमदान करेंगे।' पतिदेवता के चेहरे पर अभूतपूर्व खुशी थी।

डॉलफिन के आगमन से बच्चों का ही नहीं बड़ों का भी मनोरंजन हुआ और साथ में ज्ञान वृद्धि। वरना चारों तरफ त्यौहार का-सा माहौल और समझदारी की बातें क्यों होती, मैं भी सबके साथ उद्घाटन समारोह में गई थी। डॉलफिन का थूथन पर गेंद का संतुलन और दोनों डॉलफिनों का आपस में खेल देखा। पर मेरा मन अब दूसरे बोझ से परेशान था। तालाब साफ, पारदर्शी और बेरंग पानी मेरी परेशानी का सबब बना हुआ था।

बेटी बोली, 'मम्मी, यहाँ पानी कितना साफ है ना, नीचे का तला भी एकदम साफ दिख रहा है।'

'बेटे, तुमसे पानी का रंग पूछा गया था, यही तो है वो पानी।'

'ओह, ये डॉलफिन पहले ही आ जाती तो मुझे कप मिल जाता।' बेटी दुःखी होते हुए बोली।

'हूँ, और बॉस की बेटी को मारुति कार, मैंने सोचा। पर हमें पीने को भी ऐसा पानी कब मिलेगा....' आगे सोच नहीं पाई।

बेटी ने फिर प्रश्न किया, 'मम्मी, हमें ऐसा पानी नहीं मिल सकता, केवल पीने को भी नहीं।'

'नहीं बेटे, हम इंसान हैं, डॉलफिन नहीं, है ना!'

मैंने बात को हास्य का पुट लगाया, जोकि भारतीयों की रोते में भी करने की फितरत है।

फिर गंभीरता से उसके पिता की नकल की—'आफ्टर ऑल दे आर डॉलफिन्स।'

बेटी की हँसी के साथ मेरे मन का बोझ हल्का हो गया।

●●●

कहीं कुछ देख रहे हैं क्या?

सुबह नाश्ता-टेबल पर पहुँचाने का समय था और तभी टेलीफोन की घंटी टनटनाई। श्रीमती मेहता थी। कहने लगी, 'उस दिन तुमने जो ढोकले बनाए थे, उसकी पूरी 'रेसीपी' लिखकर रखना। मैं दोपहर की आऊँगी ले जाने।' उन्होंने तो ढोकले की तारीफ में बहुत-सी 'स्पंजी-स्पंजी' बातें सुनाई। अपनी ही तारीफ आप ही करने और सुनाने में शर्म आती है। पर दिल तो बाग-बाग हो रहा था और ये भी भूल गई कि इन्हें नाश्ता देना हैं फिर कुछ शब्द एक-दूसरे की प्रशंसा की। यही गनीमत हुई कि मैंने प्रसन्नता के अतिरेक में वीडियो पर फिल्म देखने के आमंत्रण के लोभ पर समय रहते रोक लगा दी। लगाम सही समय पर खींच ली थी, क्योंकि—दूसरी तरफ से उनका प्रश्न था—'और सब तो खैरियत है, पर कुछ देख रही हो क्या?'

जब नेत्र हैं तो जो कुछ उसकी परिधि में आएगा, देखेंगे ही। हाँ बशर्ते आँखें खुली हो। जो नहीं देखना चाहते वो भी दिख जाएगा। मुझ पर 'देखने' का यह पहला प्रहार था।

'क्या मतलब',—मैं बेवकूफ-सी पूछ बैठी।

'तुम तो भई मजाक कर रही हो। मेरा मतलब निशा के लिए कुछ देख रही हो क्या?' अरे पोस्ट ग्रेज्युएशन कर चुकी, अब उसकी शादी-वादी नहीं करनी है क्या?'

'अच्छा वो!'

'अरे ऐसे कह रही हो, जैसे कोई खास बात ही नहीं या कहीं लड़का देख कर तो नहीं रख लिया।'

मन अब तक थोड़ी दुविधा में पड़ चुका था और नाश्ते की टेबल से इनकी भुनभुनाने की आवाज भी कानों में पड़ रही थी। 'अच्छा तो अब रखती हूँ। दोपहर में बाकी बातें कर लेंगे।'

किसी तरह नाराज पति को दफ्तर भेजकर दिमाग पर जोर डालने लगी।

दूसरी तरफ दिमाग में बल्ब रह-रहकर जल-बुझ रहे थे। मेरे जेहन में तो

था ही कि निशा के लायक लड़का खोजना है। पर ये जानकर कि दूसरे लोग इस बात से परेशान हैं या दिलचस्पी ले रहे हैं, मन में खलबली मच गई। क्योंकि इस कार्य को अंजाम देने तक मैं खोजने का काम गोपनीय रखना चाहती थी।

एक विवाह में सम्मिलित होना था। निशा को भी चलना था। वहाँ हर दूसरी महिला यही कहती दिखी—'अरे निशा, कितनी बड़ी हो गई? अब तो बस मुँह मीठा कराइए।'

कुछ इससे दो कदम आगे आकर बोली—'कहीं कुछ देख रही हैं क्या?'

इच्छा तो हुई कहूँ—'नहीं जी, हम क्या देखेंगे जब आप जैसे इतने शुभचिंतक मौजूद हों।'

कहीं डिनर हो, पार्टी हो, कथा हो, पाठ हो; जहाँ थोड़ा मन हल्का और खुश हुआ कि गोली दागी जाती—''और सुनाइए, लड्डू कब खिला रही है?'

इच्छा तो होती है कि एक बार शहर के सारे हलवाइयों को अपने घर बैठाकर इतने लड्डू बनवाकर इन सबको खिलवाऊँ कि लड्डू का नाम लेना भूल जाएँ।

निशा तो वैसे ही किसी के घर या निमंत्रण पर कम ही जाती थी, जब तक उसकी कोई सहेली या अच्छी परिचिता न हो। अब तो मेरा भी उत्साह कम होता जा रहा है। मजबूरी में जाना पड़ता है और वह इसी आशंका और भय में कि न जाने कब, किस ओर से गोली दागी जाएगी। मैं खासकर ऐसी महिलाओं से दूर रहने की कोशिश करती, जिन्होंने निशा के लिए लड़के बताए हों या समझती हों कि निशा के विवाह की चिंता उन्हीं के जिम्मे है। ऐसे समय मन में ये बात उठे बिना न रहती कि काश पुरुष होती (या होता)। बस बिना मतलब की राजनीतिक बहस करो, दो-चार ठहाके लगाओ और फिलासाफरों की तरह लम्बा मुँह बनाकर देश की चिंता में कुछ कह दो, बस। धाक भी जम गई, पूछ भी हो जाएगी और उन लम्बी-लम्बी बातों के बीच पेट भी ठूँस लिया जाएगा।

निमंत्रणों में जाना कुछ हद तक कम करने लगी तो, सही में कुछ राहत हुई। क्योंकि अब पहला प्रश्न ये हो जाता था कि आप फलाँ दिन, फलाँ डिनर में क्यों नहीं आई। मैं कुछ न कुछ कारण गढ़ लेती। इस प्रकार बात का रूख काफी देर या कभी-कभी पूरे समय 'कुछ या कहीं देखने से' हटा रहता।

पर आखिर शुभचिंतक तो चिंता करेंगे ही, सो हाट-बाजार में मिलने पर या फोन पर ही उनकी अनुशंसा होने लगी। अब चूँकि उनका बताया लड़का है, इसलिए उनके विचार से वो हर तरह से अच्छा होता। भले ही लड़की या उसके

माता-पिता को रास न आए। अब इन लोगों की ये शिकायत होने लगी कि हमने इतना अच्छा लड़का हाथ से जाने दिया।

इन लोगों के उलाहनों से एक तरह से मन में यह आशंका जन्म लेने लगी कि निशा ये न समझ ले कि हम उसका विवाह नहीं करना चाहते या नहीं कर सकते। दूसरी तरफ ये लगता कि शायद हम ही नालायक हैं, जो एक अदद दामाद भी न ढूँढ सके। ऐसे में दिल इतना डूबा हुआ लगता कि मन में आता क्यों न हम किसी भी लड़के से निशा का विवाह कर दें। कहने वालों और बताने वालों के मुँह तो बंद हो जाएँगे। क्या हुआ जो लड़का निशा से नाटा है या आठ-दस वर्ष बड़ा है या सिर्फ ग्रेजुएट है। 'पोस्ट ग्रेज्युएशन' करने वालों ने कौन-सा तीर मार लिया।

ये विचार भी मन में लाए बिना न रह सकी कि बचपन में पढ़ी हुई कहानियों की तरह सुबह बाहर का दरवाजा खोलने पर जो भी पहला राहगीर नजर आ जाए, उसी से विवाह कर देंगे। पर वो पहला राहगीर या सौदागर या बड़ा आदमी तो हो नहीं सकता। सो ये योजना भी अमल में नहीं ला सकते।

अब तो हाट-बाजार जाने में भी डर लगता है कि न जाने कौन-सा शुभचिंतक टकरा जाए। दरवाजे की घंटी बजे या टेलीफोन की, एक पल को मन काँप उठता है और संभावित वार्तालाप की रिहर्सल करने लगता है। इससे उल्टा ये होने लगा है कि जो भी प्रवेश करता है, उससे अर्थहीन और अनर्गल वार्तालाप होने लगता है।

सबसे बड़ा नुकसान ये हो रहा है कि अच्छी-भली युवा लड़की को जबर्दस्ती उम्र गुजर जाने का अहसास दिला-दिलाकर समय से पहले प्रौढ़ता की ओर धकेला जा रहा है।

पर जब शांत और ठंडे दिमाग से एकांत के क्षणों में दिमाग ने जोर मारा तो समझ आ गया कि यह सिलसिला तब जाकर खत्म होगा, जब एक अदद दामाद बना लूँ। सो अब मैं परिचितों से गाहे-बगाहे, डिनर में, कथा में, हाट-बाजार में पूछती रही हूँ, 'कोई ढंग का लड़का तो बताइए।'

और सच मानिए, अब लोग मुझसे बचने लगे, कतरा कर निकल जाने लगे।

●●●

क्या अपना नम्बर एक बार फिर बताएँगे?

क्या आप सामने वाले का कद छोटा करना चाहते हैं? ये मत सोचिए कि मोटापे को कम करने के लिए जिस तरह दुकानें (पार्लर या जिम जो भी हों) खुल गई हैं, उसी तरह कद कम या ज्यादा करने के लिए भी नया उपकरण बन गया है। आप कहेंगे, तब तो यही हो सकता है कि जिस तरह किसी रेखा को छोटा दिखाने के लिए पास में एक रेखा उससे लंबी खींच देते हैं वैसे ही सामने वाले से ऊँची जगह पर खड़े हो जाएँ या जूते-चप्पलों की एड़ी ऊँची रखें। जी नहीं, इतना सब करने की आवश्यकता नहीं। आपको तो बस सामने वाले से हर बार टेलीफोन नम्बर पूछना है, बस!

इस युग में इंसान का कद कैसे नापा जाता है, यह सब जानते हैं। आपके पास बंगला, कार, दो-तीन दो पहिया गाड़ी, बड़ा-सा फ्रिज (छोटा फ्रिज तो हर मामूली घर में रहता है), कलर टी.वी., वी.सी.आर. म्यूजिक सिस्टम (भले ही धैवत और निषाद में फर्क न जानते हों), चमचमाते 'किचन' में माइक्रोवेव से लेकर लेटेस्टवेव के बिजली के ऐसे उपकरण जिनके कार्य की जरा भी संभावना 'किचन' में हो, होने चाहिए। भले ही बाद में इनको साफ करते, सहेजते मन में सोचें कि काम तो और बढ़ गया। कैसी आफत गले आ पड़ी। पर साहब इनको खरीदना और नुमाइश की तरह सजाना भी तो 'प्रेस्टिज इश्यू' है। वरना आपका कद छोटा न हो जाएगा।

भारतीयों को पहले कभी पेड़-पौधों और किताबों से ऐसा प्यार नहीं था जो वर्तमान में है। पहले पौधे लगते थे पूजा के फूल के लिए, आजकल लगते हैं ड्राइंग रूम में सजावट के लिए। यही हाल पुस्तकों का है। काँच की अलमारियों में मोटी-मोटी किताबें सजी हों तो कद इतना बड़ा हो जाता है कि सामने वाले की घिग्घी बंध जाती है। यह बात अलग है कि पढ़ने की बात तो दूर, उनकी धूल झाड़ने की भी फुरसत न हो।

मन छोटा तो तब होता है जब सामने वाला आपसे दसवीं बार, पंद्रहवीं बार आपका टेलीफोन नम्बर माँगे और आप न दे सकें। आप नहीं समझे ना?

आजकल अधिकतर लोगों के पास टेलीफोन है। कोई परिचित हुआ और दूरभाष का नंबर न पूछे यह कैसे हो सकता है। नम्बर देकर आपको भी खुशी होती होगी। तभी तक न जब वह व्यक्ति नंबर माँगना अपनी आदत न बना ले।

एक परिचिता हैं जो अनगिनत बार बाजार, समारोह या बीच सड़क पर मिल जाती है। उनकी बातें खत्म होती हैं लगभग इसी तर्ज पर—'माफ करिए दीदी, आपका फोन नम्बर न जाने कहाँ चला गया (तभी हमें पता चला कि फोन नम्बर भी चलने लगे) प्लीज एक बार बता दीजिए।' कितनी ही बार बोल चुकी हूँ कि ऐसे याद नहीं रहेगा, लिख लो।

'नहीं दीदी, याद रहेगा। शुरू में 55 और बाद में.... बस इतना ही न!' हाल ही में बताया नया नम्बर तो कोई भी दुहरा सकता है, पर उनसे कौन कहे। अब 'दीदी' कह आदर भी दे दिया और नम्बर माँग-माँग कर यह भी जता दिया कि 'आप कोई ऐसी हस्ती नहीं कि आपका नम्बर याद रखा जा सके।' वैसे हमारा नम्बर पिछली बार भी उनके पास से चल दिया होगा क्योंकि उनका फोन आज तक कभी आया नहीं।

एक दूसरी परिचिता के पास कितने हैंडबैग व कितनी डायरियाँ हैं, इसका अभी तक सही आंकलन नहीं कर पाई। वैसे भी हैंडबैग और डायरियों का मूल्यांकन तो इन्कम टैक्स वाले ही कर सकते हैं। जब भी मैं उक्त महिला को किसी काम से फोन करती, उनका 'ओपनिंग सेंटेंस' होता—'मैं आपको फोन करने वाली थी, पर आपका नम्बर मिला ही नहीं।'

'पिछली बार आपने डायरी में नोट तो किया था?'—हमारी आवाज में पर्याप्त दर्प होता कि हम भी फालतू नहीं हैं। हमारे टेलीफोन नम्बर भी डायरियों में नोटेड हैं।

'जी वो क्या हुआ कि वे डायरी कौन-सी हैं और किस हैंड बैग में रखी हैं, याद नहीं आ रहा। अब इस डायरी में नोट कर लूँगी तो हमेशा मेरे पास रहेगा।'

एक साहब हैं, उनको अपनी रचना के बारे में या साहित्य संबंधित कोई चर्चा करने के बाद फोन करो तो जवाब मिलता—'आपको फोन करने ही वाला था।' कितनी ही बार फटाक से कहने की इच्छा हुई—'तो किया क्यों नहीं? पर लेखक-लेखिका अगर साफगोई से बातें करें तो केवल खुद के लिए लिखने तक

ही सीमित न हो जाएँ। बाद में या तो बढ़ी हुई रद्दी देख खुश हो लें, या अपनी एक पत्रिका निकालने का सपना पाल लें।

जब टेलीफोन यंत्र केवल काले रंग के हुआ करते थे और कम लोगों के यहाँ होते थे, ये लोग समाज में सम्माननीय माने जाते थे। फिर लाल-हरा-नीला यंत्र आया तो काले रंग का यंत्र रखने वाले का कद वैसे ही समझ में आ जाता था। अब सेल्यूलर और मोबाइल फोन आ गए तो हमारे लाल-हरे फोन फिर हमारी खिल्ली उड़ाते से लगते हैं पर साहब आपको जब इस समाज में रहना ही है तो किसी न किसी तबके का तो होना ही पड़ेगा न, सो तसल्ली कर लेते हैं असली कद तो तब छोटा होता है जब कोई आपसे फिर एक बार फोन नम्बर पूछे। अनगिनत बार एक ही व्यक्ति के द्वारा पूछे जाने पर भी आप बताने को मजबूर हों। नम्बर बताते हुए भले ही आपको लगे कैदी नंबर की तरह अपना परिचय दे रहे हैं। अब हमारी हालत तो यह हो गई है कि ऐसे लोगों को देखते ही हम चौकन्ने हो जाते हैं कि अभी फोन नम्बर की माँग की गोली दागी जाएगी।

●●●

हाय, लोग क्या कहेंगे

शीर्षक पढ़कर आप कहेंगे ये कोई कहने की बात है? वर्तमान युग का बच्चा तक इतना स्वार्थी हो गया है कि उसे सिखाना नहीं पड़ता कि अपने लिये जिये।

पशु पक्षी तक तो 'सरवाइवल-इनस्टिक्ट' याने जीने के लिए एक अंतःप्रेरणा से ग्रस्त होते हैं और जो अधिक शक्तिशाली होते हैं, वही जीता भी है। पर कम बलशाली भी अंत तक लड़ता ही है, याने पूरा जीवनजगत स्वयं के लिए ही तो जीना चाहता है, फिर इस लेख की आवश्यकता क्या है? कुछ तसल्ली से गौर करिये तो पायेंगे कि सही में हम खुद के लिए कहाँ जी रहे हैं?

विवाह के रिसेप्शन में सपरिवार जाना है, बाकी सब तो लगभग तैयार हो गये, गृहस्वामी स्वामिनी की खोज में अंदर के कमरे में गये तो एक पल को उन्हें लगा गलत जगह पहुँच गये हैं। उनकी बेगम साड़ियों के संसार के बीच परेशान बैठी थी। 'तुम अभी तक तैयार नहीं हुई' उन्होंने आश्चर्य से पूछा।

'कोई ढंग की साड़ी ही नहीं है पहनने की' श्रीमान जी को जोर से हँसी आ गयी। किसी तरह हँसी पर काबू पाकर पूछा—'और ये सब क्या है, इनमें एक भी ढंग की नहीं है?'

'है क्यों नहीं? पर इस हरी वाली को अभी उसी दिन तो फलां उत्सव में पहना था, नीली को पिछले महीने फलां की सगाई पर, लाल को फलां ने देखा और गुलाबी को सभी देख चुके—श्रीमती जी की परेशान मुद्रा कुछ इस कदर दयनीय हो गयी थी मानो अभी रो पड़ेगी, श्रीमान जी को डर भी लगा कि वे जरा भी देर और रुके तो एक नई साड़ी लेने की फर्माइश हो जायेगी। अपनी फिक से आती हँसी को रोककर गंभीर होकर बोले—'अरे, इस ढेर में से जो ठीक लगे पहन लो और जल्दी चलो', मन में सोचा कि कहें—'किसी बड़े साड़ी के शोरूम के मालिक से या लांड्री वाले से विवाह कर लेतीं।'

लोग आपको देखेंगे या दूल्हा-दुल्हन को, वैसे भी ये तो हो ही नहीं सकता कि हर विवाह, सगाई, जनेउ या इस तरह से आमंत्रण के मौके पर नई साड़ी

खरीदी जा सके। दूसरों को प्रभावित करने के लिए किया गया यह प्रयास आवश्यक नहीं कि सफल रहे, दूसरा या सामने वाला अप्रभावित ही रह जाये तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि वर्तमान व्यस्त जीवन में इन सामाजिक रिश्तों को निभाना महज एक फर्ज बन गया है। आज हम जायेंगे कल वे हमारे यहाँ आयेंगे।

एक हमारी बहन जी हैं, उनकी तो हर कार्यप्रणाली इसी बात पर निर्भर करती है कि ये देख लेगा, वो नहीं देखेगा, या फलाँ को पता चल जायेगा, फलाँ सुन लेगा, फलाँ क्या कहेगा, वो हम पर हँसेगा, कहने का मकसद ये कि उनका सारा ध्यान और पूरा समय इस तरह बँटा होता है कि वो सहज रूप से प्रसन्नचित बहुत ही कम रह पाती। उनके साथ जुड़े एक किस्से को अभी भी याद कर-कर के हँसा जाता है। हुआ यूँ कि जीजा जी के दांतों का इलाज चल रहा था और दो-तीन दिन के अंतराल से डेंटिस्ट के यहाँ जाना पड़ता था, वे केवल मुलायम चीजें और तरल खुराक ही ले सकते थे। ऐसे में कोई भी पत्नी दाल-चावल, कढ़ी-चावल, दलिया, खीर आदि बनाकर देती। अब बहन जी ठहरी अपने किस्म की एक, पूर्व की तरह लंच-बॉक्स तैयार करती। रोटी, सब्जी, सलाद, चावल आदि सब भेजती। यहाँ तक कि भात जैसे पहले खिले-खिले दाने होते थे वैसे ही बनाकर भेजतीं। उनको ये संकोच था कि सहकर्मियों के साथ जब पति खाने बैठे तो ये न सोचे कि बस इतना ही रखा या रोटी सलाद आदि रखी ही नहीं। यहाँ तक में उन्हें हिचक और शर्म आती थी कि साथी सोचेंगे भात पकाना भी नहीं आता।

दो-चार दिन तक तो जीजा जी से न खाई गयी चीजें लौटकर आती रहीं, फिर एक साथी ने कहा—'भैये, क्यों वापिस कर देता है, या तो हम खाना कम लायेंगे या हम लोग बारी-बारी से खाना नहीं लायेंगे।'

दूसरा साथी पूछने लगा—'क्यों यार भाभी जी को मालूम ही नहीं कि तेरे दांत का इलाज हो रहा है।'

बहन जी ने सहकर्मियों की सोच को प्राथमिकता देकर अपना व्यवहार तय किया, पर अब सहकर्मी जो सोच रहे थे उससे जीजा जी को शर्म और संकोच हो रहा था। भूख सही ढंग से मिट नहीं पा रही थी सो अलग। बेमतलब दूसरों की सोच पर अपना जीना तय कर महज धन का अपव्यय ही नहीं कर रहे, वरन् अपनी सोच को संकुचित भी कर रहे हैं।

सामाजिक जीवन में कभी साथ देने के लिए तो कभी संकोच में पड़कर गलत बात या अपने सिद्धान्त के खिलाफ बात होते हुए भी ना न कह पाते हैं,

'प्रेस्टीज इश्यू' तो सबसे अधिक उलझाता है और हम इसके तहत इसी भय से या शंका से ग्रस्त रहते हैं कि हमें कहीं पिछड़ा हुआ न समझ लें। कभी ड्रिंक्स में तो कभी सिगरेट पीने में साथ देने का सिलसिला कई बार इतना महंगा पड़ता है, ये जब तक समझ में आये जब तक देर हो चुकी होती है। हमारा दिल और दिमाग जिन बातों को नकारता है उसी को महज़ दूसरों के लिए करते हैं। इससे बढ़कर बेवकूफी क्या होगी कि हम आदर्श या उचित मानते हैं, उसे न जीकर एक गलत और सिद्धान्तों के खिलाफ जीते हैं, जिसे कतई उत्तम जीवन तो कहा ही नहीं जा सकता।

एक परिचित भाभी हैं, घर में वे और उनके पति ही हैं बस। उनकी इकलौती संतान, एक बेटी शादी के बाद विदेश में ही बस गयी। कभी-कभार कुछ दिनों के लिए आ जाती, वो भी दो-ढ़ाई वर्ष में एक बार भाभी जी के यहाँ जब जाओ बड़े फक्र से कहती हुई मिलती कि कल ही अगर एक शादी करवानी हो तो करा सकती हैं। इतना राशन उनके पास हमेशा रहता है। अनाज के इस गोदाम की रखवाली और देखभाल उनके लिए सिर दर्द होता है। धूप दिखाओ, तेल लगाओ और फेंका ना जाये इस तरह खर्च करो। मैंने कहा 'भाभी इस साल आप कुछ लीजिए मत, जब सारा अनाज उठ जाये तब अगले वर्ष खरीद लीजिए, वैसे बड़े-बड़े महानगरों में कौन सालभर का गल्ला खरीदकर रखता है?

उनका जवाब पता नहीं भोला या नादान माना जायेगा या मूर्खता भरा बोली 'क्या करूँ जब पास-पड़ौस की महिलाएं 'दल' बनाकर मौसम में सालभर के खपत की चीजें लेने जाती हैं तो मेरा भी मन हो आता है, फिर न खरीदूं तो वो लोग समझेंगे पुराना ही अनाज खा रहे हैं, उसमें संकोच भी होता है।'

चाहे जो हो वो पुराना ही सब कुछ खा रही थीं और खिला रही थीं और पुरानी मानसिकता ही जी रही थीं।

●●●

मेरा पति, कुर्सी मेरी

एक असंतुष्ट पत्नी के साथ जीना कितना कष्टदायक होता है ये आप मेरे अनुभव से जान सकते हैं। पर अपनी पत्नी को किस तरह संतुष्ट किया जाये, लाख सिर पटकने पर भी समझ नहीं आ रहा है। नववर्ष, दीपावली, जन्मदिन, विवाह की वर्षगांठ सभी मौकों पर और कभी-कभी बैमौके भी तोहफे दे-देकर खुश करना चाहा। या तो वो मेरी नौकरी में परिवर्तन चाहती हैं या हो सकता है पति में ही। या ये भी हो सकता है पति को ही बदलना (दूसरे पति को अपनाकर) चाहती हों। जो भी हो मेरी इस रुदन पुकार को पढ़कर ही मेरी समस्या को समझ पायेंगे।

मेरी पत्नी की एक सहेली का विवाह ऐसे शख्स से हुआ, जो 'पॉपर टू किंग' या जिसे देशी लहजे में कहते हैं लोटा लेकर तकदीर आजमाने निकल पड़ना और करोड़पति बन जाना। बस इनकी वो सहेली पति से करोड़पति बने, अपने पति के साथ शान से रह रही है, घर में किसी चीज की कमी नहीं है। घर में क्या बाहर भी किसी भी चीज की कमी नहीं है। पति ने उसे कई कंपनियों का शेयर होल्डर बना दिया। एम.डी. की कुर्सी पर बैठा दिया। ये तो मानी हुई बात है कि कुर्सी का कुछ ऐसा प्रताप होता है कि उस पर बैठने से पहले जो इंसान साधारण-सा, आम-सा बल्कि बेवकूफ-सा भी लगे, पर बैठते ही विक्रमादित्य के सिंहासन की तरह उसमें विद्वता, समझदारी, कूटनीति सब कुछ एक साथ, एक पल में समा जाती है।

पत्नी की दूसरी सहेली है एक थानेदार की बीबी। थानेदार तो अपनी तोंद कमरपट्टी में दबाते रह जाता है, बचे समय में बड़े अफसरों की जी-हुजूरी और सैल्यूट मारना तथा फोन पर आदेश लेना व आदेश देने में लगा रहता है, पर इनकी सहेली बिना कुछ किये—धरे घर बैठे-बैठे थानेदारनी बन गयी। उसे सब पता रहता है कि कौन सब्जी घर पहुँचायेगा, कौन दूध-घी, कौन मिठाई-नमकीन, किस सिपाही को हवलदार बनाना है, किसका तबादला कहाँ होना है। सिपाही, हवलदार अपने साहब को सैल्यूट मारना एक बार भूल जायें, पर क्या मजाल जो थानेदारनी

को सैल्यूट मारना भूलें। बिरादरी के लौंडे-लपाटे 'भौजी-भौजी' करते हुए (मानो राम-राम के बाद यही जप मंत्र हो) उनके सारे काम मुस्तैदी से कर देते। थानेदार साहब जो डी.एस.पी., एस.पी. के सामने भीगी बिल्ली बने रहते, घर पर बीबी के सामने भी दुम दबाये ही रहे, पर उनकी खुशी का ये आलम था कि तोंद की परिधि दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही थी। उनका इस तरह दबकर रहना (याने लो प्रोफाइल), यहाँ तक कि थानेदारों की दूसरी पहचान घनी-लंबी मूँछें भी उन्होंने छाँट ली (पहली तो तोंद है ही)। सब यही कहते कि थानेदार साहब तो बहुत सीधे-सरल आदमी हैं, असली थानेदारनी तो उनकी बीबी है। थानेदार महोदय इसलिए खुश कि घर की लक्ष्मी चुंबक की तरह लक्ष्मी को खींच ही रही है याने माल भी आ रहा है और पुलिस में होकर भी 'अच्छे इंसान' की मुहर भी लग रही है।

इनकी तीसरी सहेली का भी काफी जल्दी विवाह हो गया था। (सूरत-शक्ल की अच्छी रही होंगी, तभी तो कभी मिलवाया नहीं) वो स्नातक भी नहीं बन पायी थी। खैर, विवाह के बाद भी कई बार शिक्षा जारी रखने की कोशिश में रोड़े अटकते रहे। वो आज तक स्नातक नहीं हो पायी। पर साहब उनकी किस्मत देखिये, वो डॉक्टरनी बन गयी। कैसे, ये शायद आपने सही अंदाजा लगा लिया हो, वरना ज्यादा सोचकर दिमाग पर जोर मत डालिये। औरतों का थानेदारनी, डॉक्टरनी, वकीलनी, उद्योगपत्नी आदि बनने का एक ही तो तरीका है। (चोरनी को इस लिस्ट में नहीं जोड़ सकते, वरना वाल्मीकि ऋषि कैसे बनते। पुरुष केवल अपना पुण्य और अच्छाई ही अर्धांगिनी को बाँट सकता है) उस सहेली का विवाह हुआ एक डॉक्टर से और अब उन्हें डॉक्टरनी बुलाने लगे। होते-होते उन्हें लगने लगा कि वो कम से कम आधी डॉक्टर तो बन ही गयी। कितनी ही दवाओं की सलाह वो आने-जाने वालों को देने लगी। डॉक्टर साहब घबराये रहते कि कहीं कुछ ऐसा न हो जाये कि लेने के देने पड़ जाये। उनके मरीज डरकर आना न बंद कर दें। पर कर कुछ नहीं सकते थे। पत्नी जब अर्धांगिनी है तो पेशे में भी आधा हिस्सा ले ही सकती है।

सहेलियाँ तो उनकी और भी हैं। किसी का पति वकील है तो कोई इंजीनियर पति, तो कोई कुछ और, पर उनके हिसाब से सबसे बदनसीब वो खुद ही है। उनको हमारी अफसरी से कुछ नहीं मिला। न नाम का न काम का, यहाँ तक कि सरकारी गाड़ी, सरकारी अर्दली, नौकर-चाकर, किसी को भी वो मन भरकर उपभोग नहीं कर सकी। हम अच्छे साहब बने रहने की कोशिश में इन सबसे बचते रहे और हमारी वो अच्छी पत्नी रहने को बाध्य हो गयी। हमारे पदनाम में

'नी' लगाकर डॉक्टरनी, थानेदारनी की तरह उनका नामकरण भी न हो पाया। अब वो बदनसीब तो है ही पर हम इसमें क्या कर सकते हैं?

भुनभुनाती रहती हैं। देश के प्रथम पुरुष की पत्नी देश की प्रथम महिला हुई। प्रदेश के प्रथम पुरुष की पत्नी प्रदेश की प्रथम महिला और एक हम हैं कटी पतंग की तरह, पिचकी गेंद की तरह, हवाविहीन गुब्बारे की तरह न नाम के पहले कुछ लग सकता, न बाद में, न पति करोड़पति बन सकता, न कुर्सी जुटा सकता। प्रदेश का मुख्यमंत्री होता तो कम से कम आपात स्थिति में कुर्सी पर न हिलने के लिए सही, बैठा तो देता, रिमोट से राज्य का कार्य चलता रहे। असली बात तो कुर्सी पर बैठने की है ना। इसी बात पर वो ऐसी बिफरी हुई है कि किसी भी क्षण मुझ पर उनके गुस्से की गाज गिरने ही वाली है। अभी तो बादल इकट्ठे हो ही रहे हैं, काली घटा दिख रही है, पर कब तक? कड़क-कड़क कर बिजली का गिरना और झमाझम बारिश का होना तय है, झेलना तो मुझे ही है। पाठकों, इसे मेरी गुहार समझना और कोई राह बता सकें तो आपका बहुत आभारी रहूँगा। असल में मुझे अपनी बीबी से बचने की कोई राह नहीं सूझ रही, नहीं साहब नहीं, वो बेलन या झाड़ू लेकर मेरे पीछे नहीं पड़ी है। वे मारे तो शायद सह भी लूँगा क्योंकि बाद में खुद ही दवा भी लगायेगी और सेंक भी करेगी। (हाँ, अगर पति के जूते-चप्पल उठाना बंद करने की चेतावनी के बाद नया शगूफा पति को सेंक न करना, दवा न लगाना आदि न छिड़ गया हो)।

आप तो बस इतना करें कि कोई ऐसा काम सुझायें कि उस पदनाम में 'नी' लगाकर उन्हें खुश हो जाने दूँ अथवा ऐसी कुर्सी बताइये जिस पर उन्हें बिठा दूँ।

●●●

मैंने प्यार किया

हर जमाने की और हर वक्त या समय की अपनी कुछ ऐसी फिल्में होती हैं, जो बेहद लोकप्रिय होती हैं। इसी प्रकार की एक फिल्म आई थी, जिसने बॉक्स-ऑफिस के उस समय तक के रिकार्ड तोड़ दिये थे। ये घटनायें उसी समय की है।

इनको और बच्चों को ऑफिस व कॉलेज भेजकर अखबार के साथ नाश्ता करने बैठ रही थी। ये मेरे सबसे सुखद क्षण होते हैं, जिसे अंग्रेजी में, रिलैक्स करना कहते हैं। आधे घंटे की आनन्द भरी मुहलत के बाद फिर घर के कार्यों में लगना ही था। टेबल के पास कुर्सी पर बैठ भी नहीं पाई थी कि एक सुरीली आवाज आई—'बाई साहब'। इस सुरीली आवाज का खौफ नींद में भी डरा देता है। इस आवाज के सुरीलेपन का राज ये है कि मेरी नौकरानी को एडवांस रुपये चाहिये अथवा छुट्टी। अब तक ये नहीं समझ पाई कि दोनों में से कौन-सी स्थिति अधिक बदतर है। डरते-डरते बाहर का दरवाजा खोला।

सजी-धजी, मुँह पर बावली-सी हंसी बिखेरे, शरीर को मरोड़ते, बल खाते हुए, ठसके से बोली—'आज काम पर नहीं आऊंगी।' 'अरे, कपड़े कौन धोयेगा, दोपहर के बर्तन कौन माँजेगा'—मैं कुछ ऊँचे स्वरों में बोल दी। 'सब काम रख दो, कल सुबह जल्दी आकर कर दूँगी।' अपनी छोटी बच्ची को कमर पर लटकाये और बाकी दोनों बच्चों को साफ कपड़े पहनाकर तैयार ही खड़ी थी। शायद कहीं शादी-ब्याह में जा रही होगी। 'तुझे पहले पता नहीं था कि आज जाना है? कपड़े तो ना भिगोती।' 'क्या करें, इनको छुट्टी मिल गई, इसी वास्ते तो आज जा रहे हैं।'

छुट्टी का सदुपयोग हो रहा है। पर छुट्टी के हिसाब से क्या शादी-ब्याह भी होने लगे हैं? 'जा कहाँ रही है, ये तो बता।' 'मैंने प्यार किया' 'चल बेशरम, तूने प्यार किया तो मैंने भी इतने दिन घास नहीं छीली। पर मेरे प्रश्न का ये कोई जवाब है?' उसके चेहरे पर वही हंसी विराजमान थी, जिसे देखकर मेरा पारा चढ़ गया। 'मैं पूछ रही हूँ, आपकी सवारी कहाँ जा रही है?' उस चिरपरिचित पगली-सी हंसी के साथ— 'ज्योति टाकीज में लगी है न 'मैंने प्यार किया' वहीं।'

जरूरी कपड़े और बर्तन तो साफ करने ही पड़ेंगे। ऊपर से दिन का सबसे सुखद समय बर्बाद कर दिया। एडवांस में पैसे माँग कर बाकी कसर पूरा न कर ले। अपनी मुखमुद्र को कठोर से कठोरतम बनाते हुए गुस्से मे बोली—'ठीक है जा, टिकट की लेन में लगी रह, और हाँ खाना भी बाँध कर ले जाना।' मेरी मुखमुद्रा कितनी भी कठोर रही हो, मेरी बात का कोई असर उस पर शायद नहीं होता। बड़े नखरे से बोली—'खाना थोड़े ही ले जायेंगे! हमने तो ब्रेड, बिस्कुट, केले और मूंगफली रख लिये हैं।' पूरे समय उसके चेहरे पर बिखरी हंसी मानो मुझे चिढ़ा रही थी कि आपके गुस्से का हम पर कोई असर नहीं होगा।

मन मारकर दिनभर काम में जुटी रही। बेटी कॉलेज से जल्दी आ गई तो लगा कि कुछ हाथ बंटा देगी। पर पीछे-पीछे सहेलियों का झुंड। 'मम्मी, हम लोग कल फिल्म देखने का प्लान बना रहे हैं कॉलेज नहीं जायेंगे।' मेरी सुपुत्री ऐलान कर रही थी। 'पिक्चर के पीछे पढ़ाई का नुकसान करवाओगी!' कोई और रास्ता भी तो नहीं है आंटी जी! शाम के शो में तो आप जाने नहीं देंगी।'

मौके पर माँ-बाप की कमजोरी का फायदा उठाना हर बच्चा अच्छे से जानता है और उसी अस्त्र का प्रयोग करता है। 'दोपहर के शो में जाना हो तो तीन पीरियड तो अटैंड कर सकते हो' मैंने भी छोड़ा नहीं। 'ओह मम्मी, इस फिल्म के लिये तो घंटों लाइन में लगना पड़ेगा, तब कहीं जाकर टिकटें मिलेंगीं। हो सकता है ब्लैक में ही लेना पड़ जाये।' 'ऐसी कौन-सी फिल्म है भई, मैं भी तो जानूं।' सारी लड़कियाँ सम्मिलित स्वर में बोलीं—'मैंने प्यार किया।' 'क्या?' 'आंटी, ये फिल्म का नाम है।' फिर कुछ शरारत से बोली—'अंजू तेरी माँ तो डर गईं।'

लड़कियाँ सही में बोल्ड हो गई हैं। मुझे अपने कॉलेज के दिन याद आते हैं। सालभर में तीन चार फिल्में देखने मिल जाये तो गनीमत समझो। सहेलियों के साथ तो कभी कभार इक्का दुक्का ही देखी होगी जिसके लिये एक सप्ताह पहले से माँ की मान मनौव्वल करनी पड़ती। अनुमति मिलने पर उनका एहसान अलग मानना पड़ता।

शाम को दफ्तर से लौटकर ये घर की और मेरी शक्ल देखकर भांप तो गये कि कुछ गड़बड़ है। जब तक सूंघकर गड़बड़ के कारण का पता नहीं लगा लेते बड़े सलीके से रहेंगे। सूंघने का अधिक मौका मैंने भी नहीं दिया। आखिर रोने को एक कंधा मुझे जो चाहिये था। रोते-रोते बोली—'बाई आई नहीं, काम करते-करते थक गई हूँ। रात का खाना देर से मिलेगा।' 'क्यों नहीं आई बाई?' तबीयत खराब है क्या?' इनके इस प्रश्न ने तो मेरे मन को कुरेद कर घाव को रिसने पर मजबूर कर दिया।

एक यह अदना-सी बाई है जो पिकनिक और पिक्चर दोनों प्रोग्राम एक साथ चाहे जब मना लेती है। एक मैं अभागी; सालभर में एक वैडिंग एनिवर्सरी में बच्चों के साथ एकमत होकर खाने की जगह और सिनेमा हॉल तय नहीं कर पाते। किसी न किसी का मुँह लटक जाता। तड़प और गुस्से से मुंह से मात्र इतना निकला—'पिक्चर गई है।' फिल्म का नाम मुँह पर इतनी आसानी से नहीं आया। ऐसे माहौल में पली थी, जहाँ रेडियो पर लता मंगेशकर की आवाज में 'प्यार किया तो डरना क्या' सुनने पर पिताजी की वो करारी डांट पड़ी कि अभी भी झुरझुरी हो उठती है।

अगले दिन बेटी पिक्चर गई और ये अनायास दफ्तर से जल्दी लौट आये। स्कूटर में पेट्रोल भरवाकर बाजार का कुछ काम कर लेने के इरादे से हम दोनों भी निकले। पेट्रोल पम्प पर लगी लंबी लाइन देख एक बार तो होश उड़ गये। फिर ध्यान दिया कि कुछ दूरी के बाद लोग बिना वाहन के दूसरी तरफ मुँह करके खड़े हैं। पता लगाया तो पेट्रोल पम्प पर खड़ा लड़का बोला—'साहब, वो वहाँ की लाइन है।' 'कहाँ की?' 'मैंने प्यार किया।' 'क्या?' ये चीख पड़े और देखने लगे कि उसकी नजरें मुझ पर तो नहीं हैं। पत्नी बुढ़िया भी हो जाये पर परपुरुष की नजरें उस पर पड़े, ये कौन पत्नीव्रता चाहेगा।

करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान की तर्ज पर मैंने अपनी जानकारी का बखान किया—'फिल्म का नाम है।' ये लज्जित से बोले—'ओह!' फिर सचेत होते हुए पूछा—'बच्चे कौन-सी फिल्म देखने गये हैं?' 'मैंने प्यार किया' अब तक जीभ इतनी आदि हो चुकी थी कि फटाक से मुँह से निकल गया।

●●●

महँगा रोए एक बार

'रिडक्शन सेल', ओह, कितना आकर्षण है इस शब्द में। खासकर महिलाओं के लिए इसमें उतना ही आकर्षण है जितना बेरोजगार युवकों के लिए 'आवश्यकता है' वाले कॉलम में होता है। स्त्रियों को सस्ते के प्रति एक अलग जिज्ञासा होती है। मेरा मतलब कीमत और पैसों से है।

हमारी एक पुरानी पड़ोसिन के यह हाल थे कि वो ऑटो में अंटशंट पैसे खर्च कर शहर के पुराने हिस्से से ही चीजें लातीं। दूसरों की लाई किसी भी चीज में उनका यही कहना होता 'हाय, ज्यादा पैसे दे दिए। दुकानदार ने आपको ठग लिया।'

शांता अखबार का आखिरी पृष्ठ पहले देखती है। दुनिया में बहुत कुछ होता रहता है, पर उससे शांता को क्या लेना-देना? कहाँ साड़ियों की सेल लगी है? कपड़े, बर्तन, जूते कम कीमत (रिड्यूस रेट) पर मिल रहे हैं, ये देख लिया तो मानो अखबार के पैसे वसूल हो गए। कल ही के अखबार में एक बहुत बड़ा मजमून था। पूरी तालिका दी हुई थी। तरह-तरह की साड़ियों के नाम, सबकी वास्तविक कीमत, कितने प्रतिशत छूट और उसके बाद ग्राहक को साड़ी कितने में मिलेगी। शांता को क्या कोई भी एक पल को ललचा जाएगा। साठ-सत्तर रुपये से लेकर आठ सौ रुपये तक में साड़ी मिले, जिनकी वास्तविक कीमत दो-ढ़ाई सौ से दो हजार तक हो। पेंट-पीस और शर्ट पीस की इतनी कम कीमत, इसका फायदा न उठाना मूर्खता ही तो होगी। दिमाग में यही ख्याल आएगा। फिर शांता जैसी औरतों के तो क्या कहने। अपने पतिदेव के साथ तुरंत उसने शाम को 'सेल' में चलने का प्लान बना लिया। पति ने एक-दो बार नकारने की कोशिश की पर वह नहीं मानी। शाम को डेढ़ साल के मुन्ने को लटकाए दोनों गए। गेहूँ लेने के लिए पैसे रखे थे, उन्हीं का उपयोग किया।

ऑटो में आते-आते शांतादेवी अपने पतिदेव से बोली—"देखिए, मैंने कितना सही कहा था न, अब इस बचत में से एक सौ का नोट मेरा।"

पतिदेव ने मन ही मन कहा—'यदि ये अनावश्यक कपड़े खरीदती ही नहीं तो पाँच सौ रुपये बच जाते।'

पड़ोसिनों को अपनी बचत के बारे में बताना जरूरी था। किसी तरह रात कटी। दोपहर उस दिन बड़ी देर में हुई। बस ताला लगाया और नई साड़ी पहनकर अपनी बुद्धिमानी की चर्चा करने निकल पड़ी। अपनी ही तारीफ के दौरान मुन्ने की ऊँगली गरम चाय में जाना वो देख नहीं पाई। मुन्ने की चीख के साथ चाय नई साड़ी पर। फिर तो बस इंद्रधनुष के सारे रंग सिमटकर उस साड़ी में फैल गए। बस आधुनिक चित्रकला (मॉडर्न आर्ट) का नमूना पेश हो रहा था। अब शांतिदेवी के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थी और बाकी की आवाजें तेज हो रही थी।

'भई, हम तो इस सस्ते के चक्कर में पड़ते ही नहीं। अच्छी चीज लेना और शान से पहनना'—एक गर्व से बोली।

दूसरी हास्य और व्यंग्य का पुट देते हुए बोली—'सस्ता रोए बार-बार महँगा रोए एक बार।'

कुमुद के पतिदेव को जूते, चप्पल का बड़ा शौक है। जहाँ भी जूतों की दुकान पर 'सेल' का बोर्ड देखा घुस जाते। बीवी-बच्चों के कपड़ों या अन्य किसी चीज का नाप मालूम हो न हो पर सबके पैर के नाप बिल्कुल रटे हुए थे। खुद के लिए, बीवी बच्चों के लिए जूते, चप्पल, स्लीपर लादे विजयी मुस्कान बिखेरते हुए जब घर में प्रवेश करते तो बीवी का नाराज होना गलत न था। बिना जरूरत के इन खर्चों का मतलब? कीमतों में कभी देखकर खरीदने की इच्छा हो ही जाती है पर ये भी तो देखना जरूरी है कि चीज की उत्तमता में कमी तो नहीं आ गई।

प्रेशर-कुकर की कीमत में भारी कमी या प्रेशर कुकर के साथ एक स्टील का डोंगा मुफ्त। सिलाई मशीन किफायती दाम पर, अभी ले लें—नहीं तो पछताएँगे। त्यौहार के मौके पर बहनों के लिए खास सुनहरा मौका। कुकर की जरूरत हो या न हो पर जब मुनाफा मिल रहा है तो ले लेना चाहिए। आगे चलकर ननद की शादी में, बेटी की शादी में काम आएगा।

स्टील की बढ़ती कीमतों के बावजूद कौन ऐसा बेवकूफ होगा जो मुफ्त देगा। इसका मतलब यही हुआ कि कुकर इतनी अच्छी किस्म का न होगा। या तो उसका 'मेटल' हल्का होगा। कुकर और स्टील के डोंगे की कीमत के बाद भी दुकानदार मुनाफा ही पाएगा।

उषा वैसे अधिक सिलाई तो करती नहीं। पर गृहिणी के लिए सिलाई की मशीन फिर भी जरूरी है। फिर 'ऑफर' भी तो कितना अच्छा। दस प्रतिशत छूट

जल्दबाजी में किसी परिचित या अनुभवी से सलाह भी न कर पाई और उठवा लाई मशीन को। दो-तीन महीने बाद लकड़ी तड़कने लगी। दुकानदार को बताने पर उल्टा वो हँसते हुए बच्चों को दोष दे बैठा। 'बहन जी, बड़े शैतान हैं आपके बच्चे जरूर कुछ जोर आजमाइश की है।'

उषा अगर नामी या प्रचलित ब्रांड का मशीन लेती, बकायदा गारंटी कार्ड भरकर दुकानदार की सील लगवाती तो आज यूँ छोटा-सा मुँह न बनता।

श्रीमती चावला महीनेभर का सामान लेने खुद जाती है और वो भी महीने भर में तीन-चार बार। इसमें कोई हर्ज भी नहीं था अगर वो चीजों में 'मेन्युफेक्चरिंग' तारीख और 'एक्सपायरी' की तारीख, ब्रांड असली है, पैकेट सही सलामत है, कहीं फटा या चूहा कुतरा हुआ या चीजें क्षय तो नहीं हो गई, आदि की जाँच करती। पर वो तो महज इसलिए अधिक समय और अधिक बार जाती है कि चीजों के साथ जो उपहार मिलते हैं वो किन-किन चीजों के साथ हैं, ये देख लें। मसलन 'वॉशिंग पाउडर' के साथ नायलोन का ब्रश, चाय के साथ कोई साबुन की टिकिया या चम्मच आदि। अति तो वे तब करतीं जब उनका मन उपहार की वस्तु में अटक जाता। सोचने की बात ये है कि उपहार या 'फ्री ऑफर' के कारण वस्तु की गुणवत्ता व तौल में कमी हो जाना, यह एक इकाई में इतना ही होता है कि हम फर्क एकदम पहचान नहीं सकते। कम्पनी या निर्माता अपनी लोकप्रियता बनाए रखने के लिए बीच-बीच में इन हथकंडों को अपनाते हैं। हम लोगों की टोली में पद्मा 'रिड्यूस रेट' से ही जानी जाती है। उसकी मुलाकात अपने पति (उस समय भावी) से पहली बार एक 'रिड्यूस रेट' वाले पिक्चर में ही हुई थी। दोनों होड़ लगाए रहते हैं कि कौन कम कीमत में दैनिक जरूरत की चीजें लाता है। इस होड़ में अँधेरे के बाद हाट से सब्जी लाना भी शामिल रहता है। सस्ते के चक्कर में सड़ी-गली भाजी, सड़े आलू-टमाटर से घर भर जाता है सो अलग।

●●●

मंगला रामचन्द्रन

मध्य प्रदेश में बसे एक तमिल भाषी परिवार की सदस्या हैं। पढ़ने के अत्यधिक शौक तथा आसपास के वातावरण ने धीरे-धीरे लेखन की ओर प्रवृत्त किया। कहानियाँ, आलेख व लघुकथाओं को लिखते व प्रकाशित होते हुए चार दशक हो रहे हैं। आकाशवाणी भोपाल तथा इन्दौर से कहानियों का लगातार प्रसारण होता रहा। आकाशवाणी पर महिला कार्यक्रमों का कुशलतापूर्वक संचालन किया। भोपाल दूरदर्शन के कार्यक्रमों में भागीदारी की है।

अब तक दस कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। कुछ संग्रहों का संपादन किया। कुछ रचनाएँ उर्दू, मराठी, तमिल व अंग्रेजी में अनुवादित हुईं। सुब्रह्मण्यम भारती के जीवन पर शोध पुस्तक शीघ्र प्रकाश्य। कहानी व आलेख स्कूल व कॉलेज के पाठ्यक्रम में शामिल किये गए हैं।

नवसाक्षर व प्रौढ़ शिक्षा लेखन में अनेक पाण्डुलिपियाँ पुरस्कृत। चिल्ड्रन बुक ट्रस्ट (एन.बी.टी.) से कहानी प्रकाशित व पुरस्कृत। हाल ही में रायपुर (छत्तीसगढ़) विश्वविद्यालय के इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के छात्रों ने आलेख 'रंगों की उड़ान' पर इसी नाम से वृत्तचित्र बनाया।

विगत वर्षों में कई पुरस्कार व सम्मान मिले हैं।

लेखकीय मन से निकले दो शब्द

इंसान सामाजिक प्राणी है, ये बात प्रति पल याद करने या दिलाने की आवश्यकता नहीं है। पर क्या हम कभी गम्भीरता से सोचते हैं कि सही अर्थों में हम समाज से कितने जुड़े हुए हैं? समाज से हम लेते कितना हैं और समाज को लौटाते कितना हैं? लेखक का तो एक दायित्व है कि वो सामाजिक सरोकारों से जुड़ा रहे। इसी तरह से जुड़े रहने से मैंने लगभग ढाई सौ आलेख लिखे जो प्रकाशित होते रहे। कहा जाता है कि लेखक/लेखिका की तीसरी आँख होती है अर्थात् दूरदर्शिता होती है। पुराने आलेखों में समाज में फैली विडम्बना और दिल को खटकने वाली कुछ बातों की ओर इशारा किया गया था। उनमें से कुछ मुद्दों ने बाद में तीव्र एवं भयंकर रूप ले लिया है।

पिछले चार दशकों में मेरे आलेखों का संग्रह तितर-बितर होकर खो सा गया। शेष बची सामग्री ही 'मनन-चिंतन भी पर हंसो भी' के शीर्षक से आपके सामने प्रस्तुत है।